MSK 003
दर्शन : न्याय, वेदान्त, सांख्य और मीमांसा

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

खंड

4

सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)

खंड परिचय खंड – 4 सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)

दर्शन संबंधी इस पाठ्यक्रम का चतुर्थ खंड ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका है। भारतीय दर्शन में सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है तथा इसका व्यापक संदर्भ है। इस खंड में आठ इकाईयां हैं जिनमें सांख्यकारिका का परिचय एवं प्रतिपाद्य विषयवस्तु का संक्षिप्त संकेत करने के उपरान्त सांख्यशास्त्र के मुख्य चर्चा बिंदुओं; त्रिविध दुःख, त्रिविध प्रमाण, सत्कार्यवाद, व्यक्त, अव्यक्त, सृष्टिक्रम तथा प्रत्ययसर्ग एवं भोग–अपवर्ग की भेदोपभेद सहित विशेष विवेचना की गई है। छात्रहित के लिए मूलकारिका एवं ग्रंथ भाग की व्याख्या तथा विशेष विवेचन भी दिया गया। इकाईयों की विशिष्ट शब्दावली की अर्थ सहित सूची भी जोड़ी गई है। आशा है इससे आपको विषय प्रवेश तथा उसके अध्ययन में सहायता मिलेगी। पाठ का इकाई संयोजन इस प्रकार है :

इकाई 16 ईश्वरकृष्ण और सांख्यकारिका

इकाई 17 विविध दुःख और सांख्यशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय

इकाई 18 त्रिविध प्रमाण–प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवाक्य

इकाई 19 सत्यकार्यवाद

इकाई 20 व्यक्त, अव्यक्त और गुणत्रय

इकाई 21 सृष्टिक्रम

इकाई 22 प्रत्ययसर्ग

इकाई 23 भोग एवं अपवर्ग

इकाई 16 ईश्वरकृष्ण और सांख्यकारिका

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के उपरांत शिक्षार्थी –

- सांख्यकारिका के दर्शन ग्रंथ के रूप महत्व को जानेंगे।
- सांख्यकारिका के रचनाकार एवं तत्संबंधी आचार्य परंपरा से परिचित होंगे।
- सांख्यकारिका की प्रतिपाद्य विषयवस्तु का ज्ञान प्राप्त करेंगे; तथा
- सांख्यकारिका की टीकाओं और भारतीय दर्शन में उसके महत्व को समझने में समर्थ होंगे।

16.1 प्रस्तावना

''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'' अर्थात् आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) करना चाहिए। यह श्रुति का निर्देश है। संसार के साथ ही सुख–दु:ख उत्पन्न होते हैं। क्योंकि संसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होता है और सुख–दु:ख मोह ये तीन उन गुणों के धर्म हैं। संसार को प्रत्येक जीव स्वभावतः सुख की प्राप्ति और दु:ख से निवृत्ति चाहता है। दु:ख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति आत्मसाक्षात्कार से ही हो सकती है। अतः श्रुति ने उपर्युक्त आदेश दिया है। इस आत्मसाक्षात्कार के लिए ज्ञानी महर्षियों ने जो साधन अपनायें और उनसे जो अनुभव हुआ उसी को उन्होंनें लोकोपकारार्थ अपनी शिष्य परम्परा में फैलाया। जिस ऋषि ने मार्ग दर्शाया उसके नाम से वह दर्शन कहलाया।

भारतीय षड् (6) आस्तिक दर्शनों में सर्वप्रचीन दर्शन – सांख्यदर्शन है। इसके प्रर्वतक महर्षि– कपिल हुए जिन्होंनें 'सांख्यसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की है। महाभारत में कहा गया है सांख्यदर्शन के समान कोई ज्ञान भी नहीं है और न ही कोई बल है। इस

प्रकार ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध होने के कारण प्रत्येक दर्शन –जिज्ञासु के लिए सांख्य का ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। इसलिए विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए समाज के किसी भी क्षेत्र का व्यक्ति सांख्यज्ञान को प्राप्त कर अपने अभीष्ट (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेता है।

इन्हीं विचारधाराओं में अन्यतम समादृत सांख्यदर्शन का ज्ञान विद्याथियों को प्राप्त हो सके तथा सांख्यसिद्धान्तों सही प्रकार से जानकारी मिल सके, इस पर अब चर्चा करेंगे।

सृष्टि का अत्युत्कृष्ट भू–भाग जो भारतवर्ष के नाम से जाना जाता है, ज्ञान–विज्ञान,विद्या, बुद्धि एवम् आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए अनादि काल से सुविख्यात रहा है। वस्तुतः इस पावन धराधाम पर ही आध्यात्म का बीज अंकुरित हुआ, जो विकसित, पल्लवित–पुष्पित होकर ऐसे वटवृक्ष का रुप धारणा किया, जिसकी शाखाओं – प्रशाखाओं ने समस्त विश्व को अपनी शीतल छाया प्रदान की एवं त्रिविधताप दैहिक, दैविक, भौतिक तापों की शान्ति का वरदान दिया।

भारतवर्ष षड्दर्शन की जन्मस्थली है। महात्मा गौतम बुद्ध एवं महावीर तीर्थंकर की जन्मभूमि है। बौद्धधर्म एवं बौद्धदर्शन तथा जैनधर्म एवं जैनदर्शन विश्व के कई देशों में आज भी प्रमुख रुप से विद्यमान है। विश्व में बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या सबसे अधिक है। चीन, जापान, मलेशिया, भारत, एशिया महाद्वीप दक्षिण पूर्वी देशों के सर्वाधिक जन बौद्धदर्शन में आस्था रखते है। विश्व के प्राचीनतम नास्तिक दर्शन चार्वाक को तो इस कलिकाल के प्रथम चरण में ही विश्व के अधिकाशं लोग अपने जीवन में व्यावहारिक रुप से अपना चुके है। चार्वाक दर्शन कहता है –

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

अर्थात् जब तक जियो सुख से जियो। ऋण लेकर घी पीयो अर्थात् मौज मस्ती से जियो। यह शरीर नश्वर है। पुर्नजन्म के बारे में क्या पता ? परन्तु भारतीय षड्दर्शन–सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, पूर्वमीमासां और उत्तरमीमांसा या वेदान्त ये सभी आत्मा की सत्ता में विश्वास करते है और मोक्ष प्राप्ति का मार्गदर्शन करते है।

उपर्युक्त षडदर्शन वेदो की प्रमाणिकता और ईश्वर की सत्ता को मानने के कारण आस्तिकदर्शन कहलाते है। इन आस्तिक दर्शनों में परिगणित सांख्यदर्शन विश्व के सभी दर्शनों में अत्यन्त प्राचीन प्रथम दर्शन है। सत्ययुग के प्रारम्भ में ही सांख्यदर्शन का प्रणयन हो चुका था। सांख्यदर्शन के प्रणेता भगवान कपिलमुनि थे, जो सत्ययुग कालीन थे। प्रजापति ब्रह्म ने सृष्टि के मनु एवं प्रथम देवी सतरुपा को उत्पन्न किया। उनकी पुत्री सर्वगुण सम्पन्ना विदुषी देवहूति का विवाह ब्रह्मा के पुत्र कर्दममुनि से हुआ। भगवान विष्णु ने कर्दममुनि को वरदान दिया था, जिसकी पूर्ति के लिए भगवान विष्णु स्वयं देवहूति के गर्भ में अवतीर्ण हुए एवं यथा समय उनका बालक रुप में जन्म हुआ। यही बालक कपिलमुनि के नाम से प्रख्यात हुए।

भगवान कपिल ने माता देवहूति को आत्मज्ञान प्रदान किया, जो सांख्ययोग की संज्ञा से तीनों लोकों में गुंजायमान है। यथा –

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममाया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्।।

तत्त्वों की संख्या करने वाले भगवान कपिलमुनि साक्षात् अजन्मा नारायण होकर भी लोगों को आत्मज्ञान का उपदेश देने के लिए अपनी माया से उत्पन्न हुए।

सांख्यदर्शन में सांख्यसूत्रों की रचना महर्षि कपिलमुनि ने की है, और इन सांख्यसूत्रों पर श्रीविज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य नामक भाष्यग्रन्थ की रचना की है। सांख्यदर्शन के पच्चीस तत्त्वों का और इसके प्रसिद्ध सिद्धान्तों का बहुत ही सरल, सहज एवं रोचक तरीके से सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ में वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीईश्वरकृष्ण है।

16.2 ईश्वरकृष्ण का परिचय

सांख्य के इतिहास में आचार्य ईश्वरकृष्ण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। महर्षि कपिलमुनि के द्वारा प्रवर्तित एवं आचार्य आसुरि तथा पच्चशिख द्वारा सवंर्द्धित सांख्यदर्शन की विचारधारा को विछेदरहित रुप से प्रवाहित करने वाले यही श्री ईश्वरकृष्ण है। इनका अनुमोदन वे स्वयं ही अपनी सांख्यकारिका में करते हैं। मानव जीवन के परम–पुरुषार्थ अपवर्ग को सम्पन्न करने के लिए अतिशय अनुग्रह करके अत्यन्त रहस्यमय एवम् दुर्बाध सांख्यज्ञान का उपदेश महर्षि कपिल ने आसुरि को दिया। गुरु गृहीत इस ज्ञान को आसुरि ने पञ्चशिख को प्रदान किया और पञ्चशिख ने इस ज्ञान का पर्याप्त प्रचार व प्रसार किया। परम पवित्र एवं कल्याणकारक यही ज्ञान गुरु शिष्य परम्परा से ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ और उन्होनें सम्यक रुप से इस रहस्यात्मक ज्ञान को हृदयंगम करके सत्तर (70) आर्या छन्दों में इसी को सुसम्बद्ध कर दिया। इन कारिकाओं में निरुपित किए गये तत्त्व सांख्यदर्शन के सबसे प्राचीन किन्तु लुप्त ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही हैं। सांख्यकारिका में केवल आख्यायिकाओं तथा परमतखण्डन का अभाव है। जैसे –

> 'सप्तभ्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
> आख्यायिका विरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि'।।

अतः सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण मुख्य रुप से कपिल परम्परा का ही अनुगम करते है। अन्य आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार वेदों, उपनिषदों, महाभारत इतिहास, पुराण इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित सांख्य–सिद्धान्त का सार संग्रह करके आचार्य ईश्वरकृष्ण ने जिस सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन किया, वह भारत का सर्वाधिक प्राचीन एवम् प्रसिद्ध प्राप्त दर्शन है। इसकी अत्यधिक ख्याति का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आचार्य शंकर ने अपने शारीरिक भाष्य में सांख्यकारिका के मतों को आधार मानकर उनके उपन्यास एवम् खण्डन पूर्वक स्वसिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ईश्वरकृष्ण के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक विचार है। माठरवृत्ति में तो माठराचार्य ने 'भगवान', 'भगवतोक्तम्' आदि बड़े ही बहुमान के साथ उसका उल्लेख किया है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ विवेचन किया है। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् 'ताकाकुसु' ने ईश्वरकृष्ण का समय 450 ईस्वी माना है। डॉ. 'ताकाकुसु' और उनसे प्रभावित हुए लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता रहस्य में 'विश्व की रचना और संहार' प्रकरण की टिप्पणी में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी एक ही व्यक्ति के नाम हैं, लिखा है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि दोनों के मतों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर हो रहा विन्ध्यवास तो सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य के आवन्तर

सम्प्रदाय का ही एक अनुयायि था। मुख्य (कपिल) सम्प्रदाय में तेरह करण (5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेद्रियाँ, 3 अन्तः करण – बुद्धि, अहंकार, मन) बताये गये हैं। किन्तु वार्षगण्य ने तीन अन्तःकरणों के बजाय एक ही 'बुद्धि' अन्तःकरणों को स्वीकार कर ग्यारह (11 करण माने हैं। उसी का अनुसरण कर विन्ध्यवासी ने भी ग्यारह करण ही स्वीकार किये हैं। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्य सप्तति की पच्चम कारिका की अवतरणिका में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का निर्देश करते हुए उनके सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के अपने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वार्षगण्य और वृषगण के अनुयायि वार्षगण्य लोगों ने 'श्रोत्रादिवृत्तिः' यह प्रत्यक्ष का लक्षण किया। उसी का उद्योतकर ने न्यायवार्तिका (1/1/4) में खण्डन किया, उसी पर व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र के लेख से प्रतीत होता है कि वे उक्त प्रत्यक्ष लक्षण को वार्षगण्य का ही समझते है। इस प्रत्यक्ष लक्षण का उल्लेखपूर्वक खण्डन तत्त्वोप्लव न्यायमञ्जरी तत्त्वार्थलोक प्रमेयकमलमार्तण्ड स्याद्वादरत्नाकर प्रमाणमीमांसा में तत्तद्ग्रन्थाकारों ने किया है। अभयभेदसूरी ने उसी प्रत्यक्षलक्षण को विन्ध्यवासी का बताया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपने गुरु वार्षगण्य के प्रत्यक्ष लक्षण को ही विन्ध्यवास ने स्वीकार किया है और ईश्वरकृष्ण का प्रत्यक्ष लक्षण उससे भिन्न है, उसी प्रकार वार्षगण्य के अनुमान लक्षण का खण्डन उद्योतकर ने अपने 'न्यायवार्तिक' में किया है। उसी से मिलते जुलते विन्ध्यवासी के अनुमान लक्षण को शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की व्याख्या पञ्जिका में बताया गया है।

उसी तरह श्लोकवार्तिककार ने भी बताया है। शब्दपरिर्वतन रहने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि विन्ध्यवासी ने अपने गुरु वार्षगण्य की परम्परा का पूर्ण रुप से समर्थन किया है। किन्तु ईश्वरकृष्ण का अनुमान लक्षण उनसे सर्वथा भिन्न है। उसी तरह विन्ध्यवासी ने आतिवाहिक शरीर को नहीं माना है। किन्तु ईश्वरकृष्ण ने सूक्ष्मशरीर (आतिवाहिका) को स्वीकार किया है। दोनों के विभिन्न सिद्धान्तों को देखते हुए ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी को एक ही कैसे समझा जा सकता है। दोनों पृथक–पृथक व्यक्ति है। इस विचार–विमर्श को दृष्टि में रखते हुए अब निसंकोच यह कहा जा सकता है कि ईश्वरकृष्ण का काल ई. प्रथम–शतक के अनुयोगद्वारसूत्र नामक जैनग्रन्थ में 'कनगसत्तरी' नाम का उल्लेख उपलब्ध होता है। यह नाम ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति अथवा सांख्यकारिका का ही है ऐसा सांख्यदर्शन के इतिहाकार विश्वसनीय विद्वान् पं. प्र. उदयवीर शास्त्री एवं म.म.डॉ. गोपीनाथ कविराज जी ने कहा है। प्रमाणों के आधार पर आचार्य ईश्वरकृष्ण का समय प्रथम शताब्दी ई. से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। सांख्यकारिका की प्राचीनतम व्याख्या आचार्य माठर द्वारा प्रणित ''माठरवृत्ति'' मानी जाती है और आचार्य माठर का समय सम्राट कनिष्क का शासनकाल (प्रथम शताब्दी ई.) माना जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व हुए है। इसके अतिरिक्त प्रथमशताब्दी ई. की रचना माने जाने वाले ''अनुयोगसूत्र'' नामक जैन ग्रन्थ में ''काविलं'', ''षट्ठितन्त्रम्'', ''माठर'', ''कणगसत्तरी'' (कनकसप्तति) का उल्लेख है। यहां ''काविल'' (कापिल) एवम् ''षट्ठितंत'' (षष्टितन्त्र) के रुप में सांख्यदर्शन के ग्रन्थों का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि ''कणगसत्तरी'' भी सांख्यग्रन्थ ही है और सांख्यकारिकाकार ने सांख्यकारिका की ''सप्तत्या किल येऽर्थाः के रुप में ''सप्तति'' अर्थात् सत्तर आर्याओं या कारिकाओं का ग्रन्थ कहा है और इसके आधार पर इसका दूसरा नाम ''सांख्यसप्तति'' है, तथा चीन में यह ''सुवर्णसप्तति'' के नाम से प्रसिद्ध है। अतः स्पष्ट होता है कि भारत में भी कम से कम बौद्ध और जैन क्षेत्रों में यह ''कनकसप्तति'' या ''सुवर्णसप्तति'' के नाम से भी प्रसिद्ध रही होगी, जिसके कारण

उक्त जैनग्रन्थ में इसे ''कणगसत्तरी'' (कनकसप्तति) कहा गया है और चीन में इसे ''सुवर्णसप्तति'' कहा गया। इस प्रकार उक्त जैन ग्रन्थ में 'सांख्यकारिका' का उल्लेख होने से सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ प्रथम शताब्दी ई. से पूर्व की रचना है और फलतः इसके रचयिता ईश्वरकृष्ण ईसा की प्रथमशताब्दी से पूर्व हुए हैं

16.3 सांख्यदर्शन का परिचय एवं परम्परा

महामुनि कपिल के द्वारा प्रचारित सांख्यसिद्धान्त सभी दर्शनों में प्राचीनतम है। उपनिषदों, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में – सर्वत्र यह सिद्धान्त पर्याप्त दिखाई पड़ता है। इसके प्रचार को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह दर्शन प्राचीन समय में बहुप्रचारित तथा लोक–प्रिय दर्शन रहा। अन्य दार्शनिकों की ही तरह बौद्धों के ऊपर भी सांख्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। गौतमबुद्ध के मौलिक सिद्धान्त सांख्य से ही लिए गए है। दुःख की सत्ता, वैदिक कर्मकाण्ड की हेयता, ईश्वर की सत्ता परा अनास्था आदि सिद्धान्तों को बुद्ध ने सांख्यदर्शन से ग्रहण किया है।

सांख्यदर्शन को तत्त्वदर्शन भी कहा जाता है। इसमें तत्त्वों की गणना की गई है। तत्त्वों की कल्पना तथा सृष्टि–प्रक्रिया में उनका योग तथा स्थान निर्देश – ये सब कुछ सांख्याचार्यों के अपने पूर्ण मौलिक सिद्धान्त हैं। बाद के सभी दर्शनों ने सांख्य की इस तत्त्व–प्रक्रिया का पूर्ण या अधिकांश उपयोग किया है। तात्त्विक प्रक्रिया के निरुपण के लिए प्रायः सभी दर्शन सांख्यदर्शन के ऋृणि हैं।

'सांख्यदर्शन शब्द की निष्पत्ति

सांख्य शब्द सम् उपसर्गपूर्वक ' चक्षिङ् ख्यात् (ख्यात्) धातु से अण् प्रत्यय लगाकर बना है। 'सांख्य का अर्थ होगा 'सम्यक ख्यानम्' अर्थात् सम्यक विचार। इसी को प्रकृति–पुरुष विवेक, विवेक ख्याति, विवेक बुद्धि, 'सत्त्व पुरुषान्यथाख्याति' भी कहते हैं। इसलिए कोषाकारों ने 'पण्डित' शब्द का पर्याय 'संख्यावान्' दिया है। इस प्रकार की विवेक बुद्धि सांख्यशास्त्र प्रतिपादित तत्त्वों के ज्ञान से होती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'सांख्य' का सम्बन्ध 'संख्या' से है और इस दर्शन का नाम सांख्य इसलिए पड़ा कि इसमें तत्त्वों की संख्या निशचित की गई है। श्रीमद्भागवद् में इसी को 'तत्त्वसांख्यान' (तत्त्वगणन) कहा गया है। व्याख्याकार श्रीधरस्वामी सांख्य को 'तत्त्वगणक' कहते है। उपयुक्त सम्यक् ज्ञान अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवद्गीता में बहुत हुआ है। यह सांख्य शब्द योगरूढ़ है, इसका प्रवृत्तिनिमित्त सांख्यशास्त्र ही है। सांख्य–सिद्धान्त में सृष्टि की उत्पत्ति के साधन के रूप में पच्चीस तत्त्वों की कल्पना की गयी है। इसमें प्रकृति कर्त्री और अचेतन तथा पुरुष तटस्थ एवं चेतन कहा गया है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसे बुद्धितत्त्व भी कहा गया है। बुद्धितत्त्व से अहंकारतत्त्व तथा अहंकारतत्त्व से पञ्चतन्मात्रएँ और एकादश इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। इसमें पुरुष चेतन है और बाकी सब अचेतन।

इसी तत्त्व गणना के कारण यह दर्शन सांख्य कहा जाता है, संख्यायन्ते – गण्यन्ते तत्त्वानि येन तत् सांख्यम्। तत्त्वों की गणना कर, उनके ठीक–ठीक रुपों को समझाकर प्रकृति एवं पुरुष का पृथक् भाव से ज्ञान कराना ही इस दर्शन का प्रधान ध्येय है। इस कारण से भी इसे सांख्य कहते हैं – 'सांख्यायते प्रकृतिपुरुषान्यताख्यातिरुपोऽवबोधो

सम्यकज्ञायते येन तत् सांख्यम्। सांख्यसार में इसी अन्तिम अर्थ को ही लेकर कहा गया है – 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।' इस तरह देखा गया कि 'सांख्य' शब्द सांख्या तथा ज्ञान दोनों अर्थों को ध्यान में रखकर प्रयुक्त किया गया है। अथवा यह कह सकते है कि प्रचीन काल में यह सांख्या शब्द से गणना एवं ज्ञान – ये दोनों ही अर्थ समझे जाते थे। इसी बात को सूचित करते हुए महाभारत में कहा गया है –

'सांख्यां प्रकुर्वते चैव, प्रकृतिच्च प्रचक्षते।
तत्वानि च चतुर्विंशत्, तेन सांख्यम्प्रकीर्तितम्।।'

सांख्यदर्शन का साहित्य अति विशाल है। सांख्य में इस समय 'तत्त्व समास' तथा 'सांख्यप्रवचन' – ये दो सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पञ्चशिखाचार्य के द्वारा रचित 'षष्टितन्त्र' नामक विशाल ग्रन्थ भी कभी सांख्यदर्शन की महत्ता का डिण्डिमघोष करता था। किन्तु दुःख है कि आज वह अनुपलब्ध है। सांख्य के प्राप्त मूल ग्रन्थों में ईश्वरकृष्ण के द्वारा रचित 'सांख्यकारिका' अत्यन्त प्रसिद्ध तथा पूर्ण व्यापक ग्रन्थ है। वस्तुतः सम्प्रति उपलब्ध सांख्य साहित्य की सारी आधारशिला सांख्यकारिका ही है। सांख्य के अन्य मौलिक ग्रन्थों की भाँति यदि काल के प्रभाव से सांख्यकारिका भी विलुप्त हो गयी होती तो इतना निश्चित है कि दर्शन जगत् से सांख्य का नाम छिन्न हो गया होता या उद्धरणों में नाम शेष रहा होता। सांख्यदर्शन निःसन्देह भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में परिगणित है। सांख्य–योग सिद्धान्तों के संकेत छान्दोग्य, प्रश्नोपनिषद कठोपनिषद्, तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों में प्राप्त होते है।

महाभारत और श्रीमद्भगवद्गीता में भी सांख्यसिद्धान्त उपलब्ध है तथा कुछ स्मृतियों और पुराणों में भी सांख्य के सिद्धान्त बहुशः प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण और उनके भाष्यकार शंकराचार्य ने तर्कपाद में सांख्य का युक्तियों द्वारा खण्डन करने के अतिरिक्त कई स्थानों पर सांख्य के श्रुतिमूलक होने का भी खण्डन किया है। शंकराचार्य जी ने सांख्य को वेदान्त का 'प्रधान मल्ल' (प्रमुख प्रतिपक्षी) बताया है। उनका कथन है कि यद्यपि सांख्यदर्शन महर्षि कपिल द्वारा उपदिष्ट है तथापि सांख्यदर्शन को, द्वैतवादी होने के कारण श्रुतिमूलक या उपनिषत् सम्मत नहीं माना जा सकता।

श्रुति एवं स्मृति में सांख्य और योग शब्द क्रमशः ज्ञान और कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। बादरायण एवं शंकराचार्य द्वारा सांख्य की श्रुति मूलकता का खण्डन इस ओर संकेत करता है कि सांख्य के प्रारम्भिक आचार्य इसे श्रुतिमूलक मानते होंगे। इसकी अधिक सम्भावना है कि सांख्य अपने प्रारम्भिक रुप में, श्रुतिमूलक एवं ईश्वर वादी रहा होगा तथा कालान्तर में जैन तथा बौद्ध प्रभाव के कारण, अनीश्वरवादी एवं वस्तुवादी बन गया। बादरायण तथा शंकराचार्य ने इसी मध्य–युगीन सांख्य का खण्डन किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर उत्तर–युगीन सांख्यों ने, जिसमें विज्ञान–भिक्षु (16वीं शती) प्रमुख सांख्य में प्राचीन ईश्वर वाद को पुनः स्थापित किया।

परम्परानुसार महर्षि कपिल सांख्य के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। किन्तु 'सांख्यप्रवचनसूत्र' जिसे कपिल मुनि की रचना माना जाता है, निश्चित ही कपिल–प्रणीत नहीं हो सकती। अधिकाशं विद्वान् इसे चौदहवीं सदी की रचना मानते हैं। शंकराचार्य तथा अन्य प्राचीन आचार्यो ने 'सांख्यप्रवचनसूत्र' का न तो उल्लेख किया है और न ही उसे उद्धृत किया है। इसके स्थान पर ईश्वरकृष्ण (तीसरी से पाँचवीं सदी) की सांख्यकारिका से ही उद्धरण दिये गये हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी

सांख्यकारिका पर अपनी प्रसिद्ध 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक टीका लिखी है। स्वयं ईश्वरकृष्ण ने कपिल, आसुरि तथा पञ्चशिख का प्राचीन सांख्याचार्यों के रुप में उल्लेख किया है। कपिलमुनि बुद्ध से पूर्व हुए हैं। उन्होंने अवश्य 'सांख्य–सूत्र' की रचना की होगी, किन्तु वह दुर्भाग्यवश बहुत पहले ही विलुप्त हो गया होगा। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है और सर्वाधिक प्रचलित भी।

विशेष–'सांख्य' शब्द 'संख्या' शब्द से व्युत्पन्न है; संख्या का अर्थ है– सम्यक् ख्यान अर्थात् सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान। सांख्या का अर्थ सांख्या की गणना का भी है। सांख्य शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। सांख्य सम्यक् ज्ञान का दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है; तथा सांख्यदर्शन तत्त्वों की संख्या पच्चीस स्वीकार करता है, यह पच्चीस संख्या वाले तत्त्वों का दर्शन है। सांख्य–योग मिलकर एक पूर्ण दर्शन बनाते है; सांख्य दर्शन बौद्धिक तत्त्वचिन्तन है और योग उसे प्राप्त करने की क्रिया या साधन है। सांख्य और योग ने प्रायः सभी भारतीय दर्शनों को किसी न किसी रुप में प्रभावित किया है।

ईश्वरकृष्ण का समय तीसरी सदी से पाँचवी सदी माना जाता है। उनकी सांख्यकारिका उपलब्ध ग्रन्थों में प्राचीन तो है ही शास्त्रीय सांख्य की सर्वाधिक उत्कृष्ट प्रतिनिधि रचना है तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भी है।

शास्त्रीय सांख्य–प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद को पुरुषबहुत्व तथा अनीश्वरवादी वस्तुवाद को मानता है तथा यह मौन अस्वीकृति का ही लक्षण माना जाता है।

16.4 सांख्यकारिका की प्रतिपाद्य – विषय–वस्तु

सर्वप्रथम ग्रन्थकार ईश्वरकृष्ण ने मंगल के साथ–साथ शास्त्रारम्भ के प्रयोजन की सूचना दी है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों दुःखों का एकान्त परिहार प्राणिमात्र को इष्ट है। दुःखों का यह परिहार दृष्ट (लौकिक) एवं आनुश्रविक (वैदिक) उपायों से सम्भव नहीं है, कारण कि दृष्ट कारणों से सर्वथा कार्य होते नहीं तथा आनुश्रविक (वैदिक यज्ञादि) उपायों से होने योग्य दुःख निवृत्ति एकान्त हो ही नहीं सकती। दुःख की एकान्त निवृत्ति तो केवल 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान' से हो सकती है, वही इस शास्त्र में प्रतिपादित है।

व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ– ये तीनों शब्द इस शास्त्र में विशेष महत्वशाली हैं। इनके महत्व को जानने के लिए इस शास्त्र के मेरुदण्ड सत्कार्यवाद को समझना परमावश्यक है।

उपादान–कारण में पहले से ही कार्य अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहता है जो निमित्त–कारणादि के व्यापार से अभिव्यक्त मात्र होता है। तन्तुओं में पट पहले से ही अनभिव्यक्त अवस्था में रहता है, तुरी–वेमा (करवा) को जब तन्तुकार चलाता है तो तब वह पट उस उपयुक्त व्यापार से 'अभिव्यक्त' होता है।

सांख्यदर्शन का 'सत्कार्यवाद' उसका अत्यन्त प्रसिद्ध तथा अन्य दर्शन से पूर्ण विलक्षण सिद्धान्त है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पूर्व, अर्थात् कारण व्यपार होने से पूर्व, अव्यक्त रुप से अपने कारण में वर्तमान रहता है। जैसे कि तेल रुप कार्य उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् कारण व्यापार होने के पूर्व अव्यक्त रुप से अपने कारण

रुप तिल में अवश्य वर्तमान रहता है। यदि ऐसा न हो तो बालु से भी, मशीन में पेरने पर, तेल निकालने की सम्भावना होने लगेगी। अतः कहना पड़ेगा कि कार्य स्थूल रुप धारण करने के पूर्व कारण में अत्यन्त सूक्ष्मरुप से वर्तमान रहता है। वस्तुतः सांख्य के अनुसार कारण और कार्य में भेद ही नहीं है। एक ही वस्तु जब की वह अव्यक्त – अत्यन्त सूक्ष्म या पिडिण्त रुप में रहती है, कारण कही जाती है और जब वह व्यक्त – स्थूल रुप को धारण करती है, तब कार्य कही जाती है। इसके लिए सुवर्ण और कटक, कुण्डल अथवा मिट्टी और घट तथा दीपक और कसोरा आदि का उदाहरण दिया जाता है। मूल सिद्धान्त है कि यदि तिल में तेल वर्तमान न हो तो चाहे कितना ही प्रयास किया जाए वह उससे उत्पन्न नहीं हो सकता। इस सत्कार्यवाद सिद्धान्त को सांख्यदर्शन ने सफलतापूर्वक अनेक तर्कों और युक्तियों से सिद्ध करने का प्रयास किया है। सांख्यदर्शन के जिन पच्चीस तत्त्वों का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं –

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पच्चभ्यः पच्च भूतानि।।
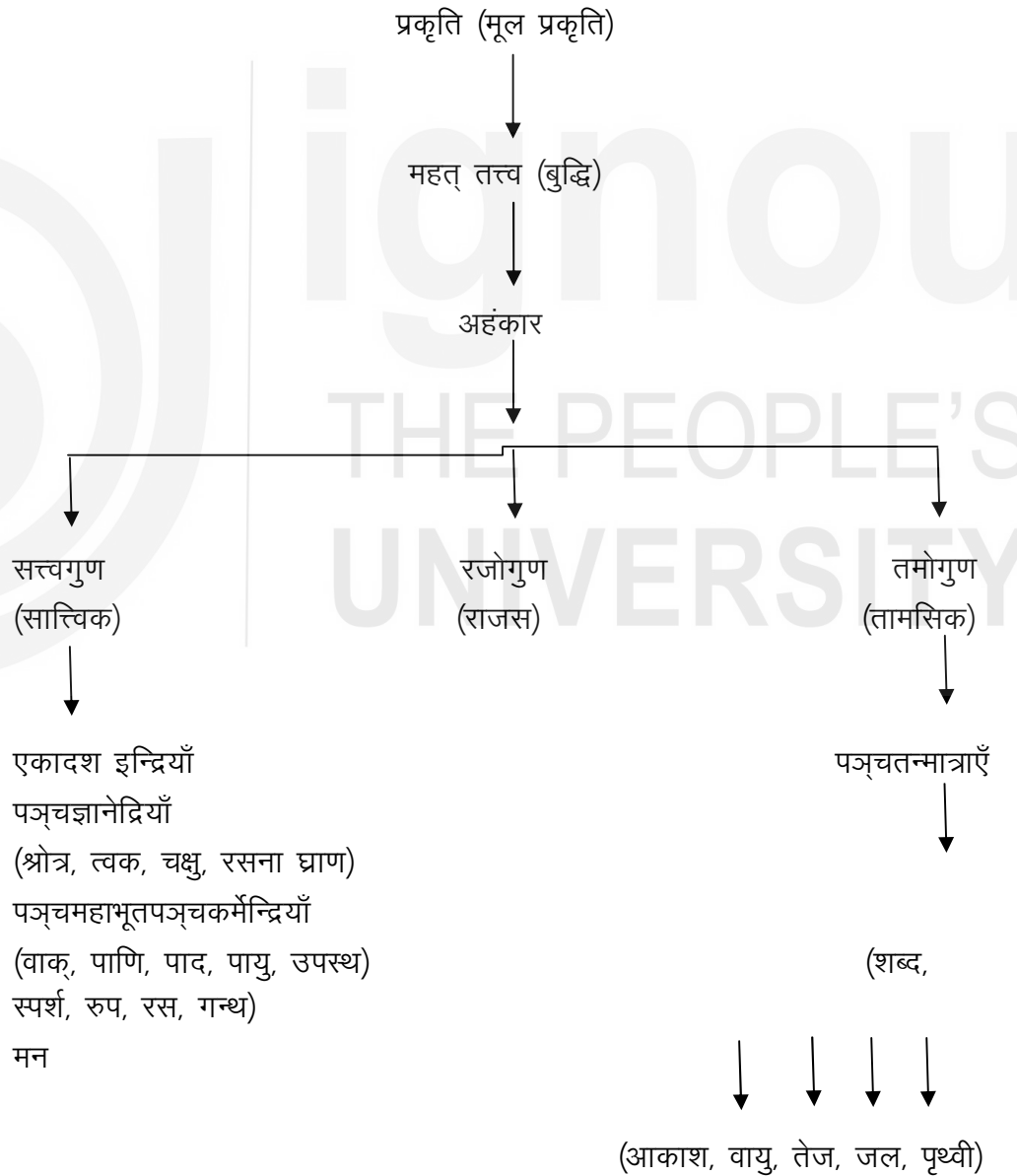
इस 25 तत्त्वों का क्रमशः विवरण इस प्रकार है :

प्रकृति –सत्त्व, रज, और तमो गुण की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इन गुणों में चेतन के संयोग से वैषम्य होने लगता है तब सृष्टि के पूर्व यह सारा कार्य जगत् इसी में अव्यक्त रुप से रहता है, इसलिए इसे अव्यक्त कहते है। इसी से सर्ग का प्रारम्भ होता है अतः इसे मूलप्रकृति या प्रधान कहते हैं। यद्यपि यह जड़ है तथापि पुरुष के भोग – अपवर्ग के लिए यह बिना किसी स्वार्थ के लिए प्रवृत्त होती है।

पुरुष –जैसे बिछी हुई शैय्या जड़ है। स्वयं अपने लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता। उसे देखकर अनुमान होता है कि कोई (इस शय्या से भिन्न) व्यक्ति है जो इसका उपयोग करेगा। इसी प्रकार प्रकृति भी जड़ है, उसका स्वयं अपने लिए कोई उपयोग नहीं। अतः इस जड़ प्रकृति गुणसमूल का उपयोग करने के लिए किसी चेतन पुरुष की कल्पना आवश्यक है। यह चेतन पुरुष, दृष्टा (साक्षी मात्र), भोक्ता, एकरस अर्थात अपरिणामि और असंहत है, जबकि गुण अचेतन, दृश्य, भोग्य, परिणामी और संहत है। ये पुरुष बहुत हैं

महत् – प्रकृति सर्वप्रथम अपने सात्विक अंश से जिस तत्त्व को उत्पन्न करती है वह महत् तथा बुद्धितत्त्व कहलाता है। सत्त्व प्रधान होने से इसमें लघुत्व एवं प्रकाश रहते हैं। यह अध्यवसायात्मक हैं। अर्थात निष्चय करना इसका स्वरुप है। पुरुष के भोग और अपवर्ग का मुख्य साधन यह बुद्धि ही है। प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद की अभिव्यक्ति इसी से होती है। इसके दो प्रकार के धर्म हैं– सात्विक और तामस। सात्विक–धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। तामस–अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। ये आठ धर्म ही भाव कहलाते हैं। जिनमें 7 से तो पुरुष का बन्ध होता है और 1 ज्ञान से मोक्ष होता है।

अहंकार –प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण महत् में स्थित रजोगुण से अहंकार होता है। 'मैं और मेरा यह अभिमान ही अहंकार हैं। इसके तीन रुप होते हैं। 1. वैकृत – जिसमें सात्विक अशं अधिक होता है, इसमें ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। 2. भूतादि– इसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है और इससे पञ्चतन्मात्रा उत्पन्न होती हैं। 3. तैजस– इसमें रजोगुण का प्राबल्य होता है यह वैकृत तथा भूतादि के कार्यो में सहायक होता है।

तन्मात्रा और इन्द्रिया –अहंकार में परिणाम होकर उसके तामस अंश से जो तत्त्व उत्पन्न होते हैं वे पञ्चतन्मात्राएँ हैं– शब्द, स्पर्श, रुप, रस, और गन्ध। सात्विक अंश से जो तत्त्व उत्पन्न होते हैं वे ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इनमें श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये 4 ज्ञानेन्द्रियाँ। वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा मन उभयेन्द्रियाँ (ज्ञान–कर्म रुप) कहलाता है।

पञ्चमहाभूत –पञ्चतन्मात्राओं में परिणाम होने से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, और गन्थ इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रत्येक महाभूत में पाँचों तन्मात्राओं के अंश विद्यमान रहते हैं किन्तु अधिक अंश जिसका रहता है उससे उसकी उत्पत्ति मानी जाती हैं।

करण –करणं त्रयोदश विधम्। करण तेरह प्रकार के होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण) तथा पच्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) और मन, बुद्धि, अहंकार। इसमें भी मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण हैं जो गौण या अप्रधान (द्वारा) मानें जाते हैं। अन्तःकरणों में भी बुद्धि प्रधान मानी जाती है क्योंकि

बाह्यकरण विषयों का आलोकन करके मन को सौंपते है, मन संकल्प के साथ उन्हें अहंकार को सौंपता हैं, अहंकार बुद्धि को सौंप देता है और बुद्धि ही उनका निश्चय करके पुरुष के समक्ष उपस्थित करती है। बुद्धि ही प्रकृति–पुरुष की पृथकता का विवेक कराती है और वही पुरुष के भोग और अपवर्ग का साक्षात् साधन हैं।

सूक्ष्मशरीर –तीन अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) दस बाह्यकरण (5 ज्ञानेन्द्रियाँ और 5 कर्मेन्द्रियाँ तथा 5 तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रुप, रस, और गन्ध) इन 18 का समुदाय सूक्ष्म या लिंग शरीर कहलाता है। सांख्य का सिद्धान्त है कि सृष्टि के आदि के प्रत्येक पुरुष के लिए एक–एक सूक्ष्मशरीर होता है। यह पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर के आश्रित रहता है किन्तु स्थूल शरीर का नाश नहीं होता दूसरे स्थूल शरीर को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह प्रलयपर्यन्त स्थायी रहता है। प्रलयकाल में प्रकृति में लीन होकर पुनः नवीन सृष्टि में नये रुप से उत्पन्न होता है।

प्रकृति पुरुष– संयोग से सृष्टि

किसी बगीचे में एक लूला और एक अन्धा अलग–अलग पड़े रहें तो दोनों बेकार हैं। लूला फलों को देखता है पर ऊँचाई से तोड़ नहीं सकता, अन्धे को सूझता ही नहीं। किन्तु अन्धा पर चढ़ा लें और उसके बताए मार्ग से पेड़ के पास ले चले तो वे दोनों फल खा सकते हैं। ठीक यही स्थिति प्रकृति और पुरुष की हैं। प्रकृति में क्रियाशक्ति तो है पर चेतना नहीं, अतः वह अन्धे के समान हैं जो चल तो सकता हैं पर देखता नहीं। पुरुष चेतन तो है पर उसमें क्रियाशक्ति नहीं, अतः वह लूले जैसे है जो देखता तो है चल नहीं सकता। परन्तु दोनों का संयोग यदि हो जाता है तो कार्य सिद्ध हो जाता है। इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि पुरुष की चैतन्य शक्ति तथा प्रकृति की क्रियाशक्ति, ये दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखती है इसी से प्रकृति पुरुष का संयोग होता हैं और उससे सर्ग का निमार्ण।

सर्ग (सृष्टि) के दो प्रकार हैं : धर्म–अधर्म आदि (भाव) पहले कहे जा चुके हैं, जो बुद्धि के परिणाम हैं और विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि रुप में परिणत होते हैं। यही भावसर्ग, प्रत्ययसर्ग या बौद्धिक सृष्टि कही जाती है। इन धर्मा–धर्मादि भावों की स्थिति या भावसर्ग की स्थिति सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से ही साध्य है, अतः दूसरा लिंग (सूक्ष्म) और स्थूल देहमय लिंग सर्ग कहलाता है जिसे सूक्ष्म सर्ग या तन्मात्र सर्ग भी कहते हैं जो चौदह भुवनों में प्याप्त है और भौतिक सर्ग कहलाता है।

प्रत्ययसर्ग –प्रत्ययसर्ग – विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि रुप बुद्धि के परिणामों से हुए, इस (प्रत्ययसर्ग) के 50 प्रकार हैं। 5 विपर्यय + 28 अशक्तियाँ + 9 तुष्टि + 8 सिद्धि = 50 प्रकार हुए।

भौतिकसर्ग (लिंग)– इस ब्रह्माण्ड के मध्य में भूलोक है। भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये 6 लोक इस भूलोक से ऊपर हैं तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात लोक इस भूलोक से नीचे हैं। भूलोक और स्वर्गलोक के मध्य का अंतरिक्ष ही भूवर्लोक है। इसी को नक्षत्रलोक भी कहते हैं। सूर्य–चन्द्र आदि जितने भी नक्षत्र दिखाई देते है वे सभी इसी लोक में रहते हैं। आज जिस विज्ञान को उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है ऐसा कहा जाता है कि उसकी पहुँच इसी भूवर्लोक में पृथ्वी के निकटतम ग्रहों पर करने के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक किया जा रहा है, जबकि प्राचीन भारत में भुवर्लोक से ऊपर स्वर्गलोक तक तो आसानी सें आवागमन होता था। कितने ही राजा स्वर्ग में इन्द्र की सहायता

के लिए जाते थे। योगी लोग तो अपने योग–बल से सत्यलोक तक पहुँचते थे। 53 वीं कारिका में जो आठ प्रकार की देवयोनियाँ कहीं जाती है वे इन्हीं लोको में रहती हैं। योगसूत्र के व्यास भाष्य में इसका वर्णन इस प्रकार है–

''बाह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवी तारा भुवि प्रजा।।

अर्थात् सत्यलोक, तपोलोक और जनलोक ये तीन ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। इनमें ब्रह्मयोनि के लोग वास करते हैं। उनके विभाग इस प्रकार हैं – सत्यलोक में चार देवयोनियाँ रहती हैं – अच्युत, शुद्ध–निवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञि। तपोलोक में तीन देव योनियाँ हैं– अभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर।

यद्यपि देवयोनियों के कई भेद हो सकते हैं किन्तु प्रधानरुप से 8 विभागों में सबका अन्तर्भाव हो जाता है अतः ''अष्टविकल्पो दैवः'' कहा गया है। इसी प्रकार की तिर्थक् योनि मानी जाती है। पशु खुरवाले प्राणी, जैसे – गाय, भैंस, हरिण, वराह आदि। मृग– बिना खुर वाले प्राणी – जैसे – वानर, भालु, चीता, खरगोश आदि। पक्षी– पंखों वाले। सरीसृत– सरकने वाले सर्प आदि। स्थावर–वृक्ष, लता आदि। घट–पटादि भी इसी स्थावर के अन्तर्गत आते हैं।

विवेकख्याति

सांख्यदर्शनानुसार बुद्धि जड़ है और पुरुष चेतन। किन्तु जब वह अपने को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता और बुद्धि के शान्त, घोर या मूढ़ समझता है, यही पुरुष का अविवेक है यही चिदचिद् ग्रन्थि कहलाती है जो पुरुष के दुःख या संसार का हेतु है। बुद्धि से अपने को पृथक समझना ही पुरुष का विवेक है जो इस दुःख या संसार से मुक्त होने का उपाय है। बुद्धि से अपने को पृथक समझ लेने पर बुद्धि में उसकी आत्मा–भावना नहीं रह जाती है और वह बुद्धिगत सन्तापों से सन्तप्त नहीं होता, इसी को विवेक या सदसद्ख्याति कहते हैं। तत्त्वसाक्षात्कार अथवा विवेकख्याति होने पर पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है और प्रकृति को केवल नाट्यमच्च पर बैठे दर्शक की तरह देखता है।

मोक्ष –सांख्यदर्शनानुसार मुक्ति दो प्रकार की है – जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। क्लेश कर्म और विपाकाशादि रुप से अवयिक्त ही बुद्धि–रुपी भूमि में कर्मरुपी बीज अंकुर पैदा करता है। तत्त्वज्ञान रुप गीष्म से सुखा दी गई अथवा जलाकर ऊषर बना दी गई बुद्धिरुपी भूमि में कर्मरुपी बीज की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? अर्थात् कथमपि ये सम्भव नहीं। इस तरह तत्त्वज्ञान से क्रियमाण कर्म के निर्वाय हो जाने पर, सच्चित् के भस्म हो जाने से प्रारब्ध कर्म की परिसमाप्ति तक जीवन्मुक्ति की अवस्था रहती है, और उसके बाद शरीर के विनष्ट हो जाने पर विदेहमुक्ति होती है। सांख्य की दृष्टि से यही यथार्थ मुक्ति है। विवेकज्ञान का सुमधुर फल है।

तत्त्व–साक्षात्कार अथवा विवेकख्याति होने पर पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति को केवल नाट्यमच्च पर बैठे दर्शक की तरह देखता है। प्रकृति भी उस मुक्त पुरुष के लिए अपना कार्य बन्द कर देती है। यद्यपि मुक्ति होने पर भी प्रकृति से उसका संयोग होता है किन्तु उस संयोग से सर्गोत्पत्ति रुप परिणाम नहीं होता क्योंकि पुरुष दर्शक की भाँति ''मैं इसे देख चुका'' यह सोचकर उसकी अपेक्षा कर देता है और प्रकृति भी ''मुझे इसने देख लिया'' यह सोचकर जैसे उसके समक्ष नहीं जाती। इसलिए सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं रहता।

16.5. सांख्यकारिका की टीकायें

सांख्यकारिका को 'सांख्यसप्तति,' कनक–सप्तति या हिरण्यसप्तति भी कहा गया है। ईश्वरकृष्ण ने जिन कारिकाओं को लिखा उन्हीं के ये पूर्वोक्त नाम हैं। सम्भवतः अत्यन्त सारभूत होने के कारण ये कनकसप्तति– आदि नाम पड़े हों। अनुयोगद्वारसूत्र में ''कणग सत्तरी'' पद इसके लिए प्रयुक्त हुआ है। छठी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् परमार्थ ने वृत्तिसहित इस हिरण्यसप्तति का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिसका पुनः चीनी भाषा से संस्कृत में अनुवाद श्री अय्यास्वामी शास्त्री ने किया है।

इस ग्रन्थ पर छः (6) प्राचीन व्याख्याएँ (टीकाएँ) उपलब्ध हैं –

1. **माठर–वृत्ति** : यह सम्भवतः इस ग्रन्थ पर उपलब्ध वर्तमान टीकाओं में सबसे प्राचीन है। अनुयोगद्वार सूत्र में कापिलं षष्टितन्त्रं के साथ 'माठर' पद आता है उससे भी इसकी प्राचीनता सिद्ध है। छठी शताब्दी में जिस वृत्ति के साथ सुवर्णसप्तति का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ सम्भवतः वह यही वृत्ति थी। इसका असन्दिग्ध स्वरुप उपलब्ध नहीं हैं। चौखम्भा संस्कृत सीरीज से जो माठर–वृत्ति प्रकाशित हुयी है वह या तो गौडपाद भाष्य का विराद रुप है या फिर गौडपाद भाष्य उसका संक्षिप्त रुप।

2. **युक्तिदीपिका** : यह सांख्यसप्तति की सबसे अच्छी एवं उपयुक्त टीका है इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। इसे कोई वाचस्पति मिश्र तथा कोई किसी राजा की कृति मानते है। इसके रचनाकार का निर्णय न होने पर भी यह तो कहना पड़ता है कि यह विक्रम संवत चतुर्थ शती से अर्वाचीन नहीं है। श्री उदयवीर शास्त्री का कथन है कि वाचस्पति मिश्र ने जिस राज वार्तिक के श्लोकों के उद्धरण तत्त्वकौमुदी में दिये है वह सही है।

3. **जयमंगला** : कामन्द नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र तथा भट्टिकाव्य पर भी इस नाम कर टीकायें हैं परन्तु इन सबका कर्ता एक ही व्यक्ति है यह नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत टीका का कर्ता शंकर प्रतीत होता है और इसका रचना काल विक्रम सं. का सप्तम शतक के लगभग हो सकता है क्योंकि नवम शती में वाचस्पति समान पूर्वक इसके उद्धरण देते है। युक्ति दीपिका से यह टीका बाद की प्रतीत होती है।

4. **तत्त्वकौमुदी** : यह प्रसिद्ध दार्शनिक श्रीवाचस्पति की कृति है, जिनका काल प्रायः विक्रम की नवीं शती का पूर्वार्ध निश्चित है। तत्त्वकौमुदी अन्य सभी टीकाओं की अपेक्षा अधिक प्रचलित रही है क्योंकि पाश्चाद्वर्ती होने से सभी के सिद्धान्तों का पर्यालोचन इसमें हुआ है और प्रौढ़ रचना है ही।

5. **चन्द्रिका** : इस टीका के रचयिता श्री नारायणतीर्थ है जिसका काल 17 वीं शतीं है।

6. **गौडपाद भाष्य** : यह युक्तिदीपिका से, पाश्चात् तथा जयमंगला से पूर्व की रचना प्रतीत होती है। हम पूर्व में कह चुके है कि वर्तमान उपलब्ध माठर–वृत्ति से इसका अत्यन्त साम्य है। माडूक्यकारिका के रचयिता गौडपाद से यह अभिन्न है या नहीं, यह अभी तक विवादास्पद ही है।

16.6 भारतीय दर्शन परम्परा में ईश्वरकृष्ण एवं उनकी सांख्यकारिका

विचारशील विद्वानों का कहना है कि सांख्य शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में पाया जाता है। सांख्य–प्रतिपादित विचारों का उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध होने से उसकी अति प्राचीनता में किसी प्रकार भी संदेह नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद की ऋचा इस प्रकार हैं –

> ''दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
> अतुर्तपन्था पुरुरथो अर्यमा सप्त होता विषुरुपेषु जन्मसु।।

सांख्यदर्शन के कुल कितने आचार्य हैं इस विषय में कहा जाए तो – स्मृति महाभारत, कारिकादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट 26 सांख्याचार्यों के नाम उपलब्ध होते है– 1. कपिल, 2. असुरि, 3. पच्चशिख, 4. विन्ध्यवासी (विन्ध्यवासक), 5. वार्षगण्य, 6. जैगीषव्य, 7. वोढु, 8. असितदेवल (देवल), 9. सनक, 10. सन्नदन, 11. सनातन, 12. सनत्कुमार, 13. भृगु, 14. शुक्र, 15. कश्यप, 16. पराशर, 17. गर्ग (गार्ग्य), 18. गौतम, 19. नारद, 20. आष्टिसेया, 21. अगस्त्य, 22. पुलस्त्य, 23. हारीत, 24. उलूक, 25. वाल्मीकि, 26. शुक।

इसके अतिरिक्त भी अनेक सांख्याचार्य हुए है जिनमें श्री ईश्वरकृष्ण एक प्रसिद्ध सांख्याचार्य है। इन्होंनें सांख्यकारिका नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। सांख्यदर्शन में पुरुष और प्रकृति का पारस्परिक भेद, स्वार्थ और परामर्थ का आन्तरिक अन्तर, पुरुष के चैतन्य होते हुए भी निष्कृय और निर्गुण स्वरुप जैसे कान्तिकारी सिद्धान्तों का निरुपण अत्यन्त सूक्ष्म, सुस्पष्ट और सयुक्तिक विवेचन का सर्वाधिक श्रेय ईश्वरकृष्ण को ही मिलता है। इनकी सांख्यकारिका अद्यतन उपलब्ध सांख्यदर्शन के ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ तो है ही, सांख्यकारिका सांख्यदर्शन की सर्वाधिक उत्कृष्ट रचना भी है। सांख्यकारिका के महत्वपूर्ण पहलु –प्रकृति के परिणाम या क्रमिक विकास अथवा उत्क्रान्ति की धारणा ने इसे सर्वाधिक लोकप्रियता के शिखर पर आरुढ़ कर दिया है। चीनी विद्वान 'कुई–ची' का कथन है कि 'सांख्य–सप्तति' के रचयिता ईश्वरकृष्ण को तत्कालीन प्रशासन के द्वारा सत्तर स्वर्णमुद्रायें भेंट की गई थी। यही कारण है कि यह ग्रन्थ सुवर्णसप्तति, कनकसप्तति अथवा हिरण्यसप्तति के नाम से ख्यात हुआ।

डॉ. विद्याभूषण ने ईश्वरकृष्ण और वसुबन्ध को समकालीन मानकर इनका समय 400 ई. निर्धारित किया है। डॉ. विन्सेण्ट स्मिथ की दृष्टि में वसुबन्धु का समय 280 से 360 ई. के बीच का है, क्योंकि 404 ई. में इनके ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था। इस प्रकार वसुबन्धु का समय जब पीछे हटता है तो ईश्वरकृष्ण का समय करीब 200 वर्ष पीछे ले जाना पड़ता है। इस तरह ईश्वरकृष्ण का समय लगभग 240 ई. के आस–पास पहुँच जाता है।

16.7 सारांश

सांख्यदर्शन निसंदेह भारतीयदर्शन के प्राचीनतम संप्रदायों में परिगणित है। सांख्य योग सिद्धान्तों के संकेत छान्दोग्य, प्रश्न, कठ तथा विशेषतया श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होते हैं; महाभारत और गीता में भी उपलब्ध होते है; तथा कुछ स्मृतियों और पुराणों में भी मिलते हैं। ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण और उनके

भाष्यकार शंकराचार्य ने तर्कपाद में सांख्य की युक्तियों के द्वारा खण्डन करने के अतिरिक्त कई स्थानों पर सांख्य के श्रुतिमूलक होने का खण्डन किया है।

परम्परानुसार महर्षि सांख्य के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। किन्तु 'सांख्यप्रवचनसूत्र' जिसे कपिल मुनि की रचना माना जाता है। इस सांख्यसूत्र नामक ग्रन्थ पर एक भाष्य लिखा 'विज्ञानभिक्षु' जी ने जिसका नाम है 'सांख्यप्रवचनभाष्य'। सांख्यदर्शन में 25 तत्त्व स्वीकार किए गए हैं सांख्यदर्शनिकों के द्वारा उनमें प्रथम तत्त्व 'मूल–प्रकृति' है और प्रकृति से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से अहंकार, अहंकार से त्रिगुणों (सत्त्व, रज, तम) की उत्पत्ति होती है। सात्त्विक गुण की अधिकता से एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा तमोगुण की अधिकता से पच्चतन्मात्राओं से पच्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती हैं।

सांख्यदर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों को कारिकाओं के माध्यम से संकलित कर प्रस्तुत किया है। श्री ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका में प्रमुख रुप से 70 कारिकाएँ मानी गई है जिन्हें – सुर्वणसप्तति, कर्णगसत्तरी या सांख्यसप्तति भी कहा है। सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद को मानता है। कार्यकारण भाव में सांख्याचार्य कार्योत्पत्ति से पूर्व भी कारण में सत् मानते है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्यदर्शन सभी दर्शनों में प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ है इसलिए सांख्यचार्यों को 'सांख्याः वृद्धाः' कहा गया है वृद्धाः अर्थात् श्रेष्ठाः। अतः सांख्यदर्शन सर्वप्राचीन एवं श्रेष्ठ है।

16.8 शब्दावली

1. दुःखत्रयम् = आध्यात्मिक, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्चेति। तीन प्रकार के दुःख।
2. अत्यन्ततः = नित्यम्। (नित्य)
3. जिज्ञासा = जानने की इच्छा।
4. अव्यक्त = प्रधान (प्रकृति)
5. ज्ञ = पुरुष
6. ज्ञाता = पुरुष
7. ज्ञेय = प्रकृति आदि 24 तत्त्व।
8. अध्यवसाय = बुद्धि।
9. मुक्ति = मोक्ष।
10. व्यक्त = विकार (महदादि)
11. आनुश्रविक = जो सुना जाता है उसे अनुश्रव कहते हैं अर्थात् वेद। उसमें होने वाला अर्थात् वैदिक।
12. आप्त = यथार्थवक्ता।
13. हेतुमत् = हेतु (कारण) वाला है।
14. महततत्त्व = बुद्धितत्त्व।
15. सक्रिय = क्रिया जिसमें हो।

16. त्रिगुण = सत्त्व, रज, तम तीन गुणों वाली (प्रकृति)।
17. अभिमान = अहंकार।
18. करण = तेरह प्रकार के करण–मन, बुद्धि, अहंकार, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्चकर्मेन्द्रियाँ करण कहलाती हैं।
19. अन्तःकरण = बुद्धि, मन और अन्तःकरण कहलाते हैं।

16.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सांख्यसूत्रम्, महर्षि कपिल
2. सांख्यप्रवचनभाष्य, विज्ञानभिक्षु
3. सांख्यकारिका, श्री ईश्वरकृष्ण
4. सांख्यतत्त्वकौमुदी वाचस्पति मिश्र
5. सांख्यकारिका, अनुवादक आचार्य जगन्नाथ शास्त्री, (मोतीलाल, बनारसी दास, दिल्ली)
6. भारतीयदर्शन आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा (मोतीलाल, बनारसी दास, दिल्ली)
7. भारतीयदर्शन, डॉ. शोभा निगम (मोतीलाल, बनारसी दास, दिल्ली)
8. सांख्यतत्त्वकौमुदी, डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र (अक्षय वट प्रकाशन इलाहाबाद)
9. सांख्यतत्त्वकौमुदी, डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय (चौखम्भा कृष्णदास अकादमी वाराणसी–221001)
10. सांख्यतत्त्वकौमुदी, डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर (चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी)

16.10 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्यदर्शन के प्रणेता कौन है ?
2. सांख्यप्रवचनभाष्य किसने लिखा ?
3. सांख्यकारिका किसने लिखी ?
4. सांख्यदर्शन में कितने तत्त्व माने गये है ?
5. हिरण्यसप्तति किस ग्रन्थ का नाम है ?
6. सांख्यकारिका पर वाचस्पति ने कौन सा ग्रन्थ लिखा ?
7. सांख्यदर्शन में प्रधान किसे कहा गया है ?
8. 'ज्ञ' किसको कहा गया है ?
9. ज्ञाता कौन है ?
10. प्रकृति यदि जड़ है तो पुरुष क्या है ?
11. चेतन तत्त्व किसे कहा गया है ?
12. मुक्ति कितने प्रकार की होती है ?
13. आस्तिकदर्शन मुख्य रुप से कितने है ?

इकाई 17 त्रिविध दुःख और सांख्यशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- सांख्यकारिका की प्रतिपाद्य विषयवस्तु से परिचित हो सकेंगे।
- त्रिविध दुःखों के बारे में अध्ययन करेंगे।
- त्रिविध दुःखों के निवारण और उनके भेदों की जानकारी प्राप्त करेंगे; तथा
- दुःखत्रय के उपशमन के उपायों को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में जिन दार्शनिक ग्रन्थों में अध्यात्म चेतना प्रकट हुयी है उनमें सांख्यदर्शन का विशेष स्थान है। सांख्यशास्त्र द्वैतवादी दर्शन है। इसके प्रवर्तक देवहुतिपुत्र महर्षि कपिल महामुनि है। सांख्य' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक ख्या प्रकथने धातु से अण् प्रत्यय लगाकर बना है। 'सांख्य का अर्थ होगा सम्यक विचार। इसी को प्रकृति–पुरुष विवेक, विवेक ख्याति, विवेक बुद्धि, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं, जो कि पुरुष को सांसारिक बन्धन से मुक्ति दिलाकर मोक्ष का कारण बनता है।

वक्ता की उसी बात के प्रति श्रोता उन्मुख होता है जो उसके जीवन से संबन्धित होती है, अतएव उसके लिये उपयोगी होती है। जो बात उसके काम की नहीं होती, उन्मत्त – प्रलाप की तरह उसकी अवहेलना करना श्रोता के लिए अत्यन्त स्वाभाविक होता है। जहाँ तक सांख्यशास्त्र का संबन्ध है यद्यपि उसका मुख्य लक्ष्य प्रकृति एवं पुरुष के एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने का निरुपण करना है तथापि वह जनजीवन से साक्षात् संबन्धित है, किसी व्यक्ति का बुद्धि विलास मात्र नहीं है। दुःख लोक जीवन का कटु सत्य है। अतः उसकी सत्ता का अपलाप किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता। किन्तु दुःख की यहीं अनुभूति चिन्तन की परम्परा को जन्म देगी और उसी से दर्शन के ऊंचे से ऊंचे सिद्धान्त विकसित होंगे, इसका आभास किसको हो सकता है? अतः जो

विषय लोक–जीवन में व्याप्त दुःख के निवारण के उपाय से सम्बन्धित है, उसके प्रति कौन श्रोता ऐसा है जो उन्मुख न होगा।

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति का लक्ष्य एकमात्र सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार ही तो है। उनमें भी जो विचारशील हैं वे तो सांसारिक वैषयिक सुख को भी दुःख मिश्रित होने से हेय कोटि में ही समझतें हैं। सांख्य दर्शन में आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति का वर्णन प्राप्त होता है।

> दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
> दृष्टे सापार्थाचेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात्।।

इन तीनों प्रकार के दुःखों को सदैव और अवश्य ही रोकने के लिये सांख्यशास्त्रीय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उसके सिवाय अन्य कोइ ऐसा उपाय नहीं है जो सदा के लिये और अवश्य ही दुःखों को रोक सके। अन्य भारतीय दर्शनों की भांति सांख्य दर्शन भी दुःख निवारण को ही अपने शास्त्र का परम प्रयोजन बताता है।

सांख्यदर्शन विचारधारा के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति को प्रस्तुत करता है जो मन के औपचारिक स्वभाव से भिन्न है। नैरन्तर्य के सिद्धान्त पर विशेष बल देने के कारण, यह किसी अंश में, विश्व को साफ सुथरे मण्डलों मे बंधा मानने की प्रवृत्ति को त्याग देने का निर्देश करता है। न्याय वैशेषिक के कड़े पदार्थों को जटिल तथा गतिशील विश्व की व्याख्या के लिए पर्याप्त साधन न मानकर, सांख्य ने आणविक अनेकवाद के सिद्धान्त से वस्तुतः आगे पग बढाया है। सृष्टि रचना स्थान में विकासवाद का प्रतिपादन करके सांख्य ने अलौकिक धर्म की नींव में ही कुठाराघात किया है। इसके अनुसार, यह संसार किसी सृष्टि कर्ता ईश्वर का कार्य नहीं है, जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस संसार को आह्वान करके उत्पन्न किया, बल्कि यह असंख्य आत्माओं तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है। इस प्रकृति अथवा प्रकृति की क्षमता को प्लेटो "समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री" कहता है।

प्रमाता (विषयी) तथा प्रमेय (विषय) के मध्य जो भेद है उसके ज्ञान के आधार पर सांख्यदर्शन पुरुषों तथा प्रकृति की यथार्थ सत्ता की कल्पना करता है। यदि हम ज्ञाता तथा ज्ञात की यथार्थसत्ता की कल्पना नहीं करते तो अनुभव की कोई व्याख्या संभव नहीं हो सकती। सांख्य समस्त अनुभव का हिसाब अर्थात् कि हम अनुभव क्यों करते हैं और किस प्रकार प्राप्त करते हैं, देने का प्रयत्न करता है। रिचार्ड गार्बे, जिसने इस दार्शनिक शाखा का विशेष अध्ययन किया है, कहता है – "कपिल के सिद्धान्त में, संसार के इतिहास में सबसे प्रथम, मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपनी शक्तियों में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई दिया। भारत में उत्पन्न यह दर्शन सर्वाधिक सारगर्भित पद्धति है।" जो लोग उक्त मूल्यांकन को अतिशयोक्ति मानते हैं, वे भी यह तो स्वीकार ही करेंगे कि यह विशुद्ध दर्शन के क्षेत्र में एक विलक्षण प्रयास है।

इस दर्शन का नाम "सांख्य" इसलिए हुआ क्योंकि यह सैद्धान्तिक अनुसंधान के द्वारा अपने परिणामों पर पहुंचता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार, सांख्य नाम संख्या के कारण हुआ, जो उचित ही है, क्योंकि यह दर्शन हमें विश्व के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक परिगणन देता है। किन्तु यह परिगणन की प्रवृत्ति समस्त हिन्दू विचारधारा की पद्धतियों में सामान्य रुप से पायी जाती है। प्राचीन पाठ्यपुस्तकों में सांख्य का प्रयोग दार्शनिक विचार के लिए हुआ है, न कि परिगणन के अर्थों में। यह विशिष्ट दर्शन, जो

सावधानीपूर्वक विचार करके पुरुष अथवा आत्मा तथा अन्य सत्ताओं के स्वरुप की व्याख्या करता है, अपना नाम सार्थक करता है।

17.2 त्रिविध दुःख – कारिका 1-2

दुःखत्रयाभिघाताजिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सापार्थाचेन्नैकान्तात्यन्ततोभावात्

व्याख्या –सांख्यकारिका की रचना का विशिष्ट प्रयोजन प्रकट करने के लिये ईश्वरकृष्ण इस विषय में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं – इस अनित्य एवं क्षणभंगुर संसार में सभी प्राणी तीन प्रकार के दुःखों से आक्रान्त है। वे त्रिविध दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं। इन्हीं दुःखों की निवृत्ति के लिये शास्त्रीय साधन के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है और यह तत्त्व ज्ञान सांख्यशास्त्र द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है। यहां पर प्रश्न उठता है कि जब तीनों दुखों के विनाशार्थ लौकिक उपाय विद्यमान है तब फिर शास्त्र ज्ञान की जिज्ञासा व्यर्थ ही है। क्योंकि वह क्लिष्ट पड़ता है। किन्तु इन साधनों से दुःखों की निवृत्ति निश्चितरुप से नहीं हो पाती। अतः इस दुःख की अनिवार्य रुप से सार्वकालिक मुक्ति के लिये ही सांख्य–शास्त्र अध्ययन अपरिहार्य हो जाता है।

विशेष –अभिघात और अपघात दो शब्द इस कारिका में ऐसे प्रयुक्त हुये हैं जिनकी उपलब्धि अन्यत्र नहीं होती। अभि तथा अप पूर्वक हन् धातु से घञ् प्रत्यय करके इनकी निष्पत्ति होती है। अभिघात पद का अर्थ जयमंगलाकार ने पीड़न किया है तथा इसमें प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति हेतु अर्थ में मानी है। वाचस्पति मिश्र तथा स्वामिनारायण ने इसे प्रतिकूलवेदनीयतात्मक सम्बन्ध माना है जो दुःखत्रय से चेतना शक्ति का होता है।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक – इन तीन प्रकार के दुःखों का आत्मा के साथ अभिघात (सम्बन्ध) होने से उनके विनाशकारणीभूत हेतु को जानने की इच्छा होती है कि दुःख सामान्य के विनाश का कारण कौन है? यदि लौकिक दृष्ट उपाय से ही वह जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है तो फिर इतने गहन शास्त्राध्ययन की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर दिया कि दृष्ट लौकिक उपाय औषधि–सेवन आदि से दुःख–निवृत्ति होती है, किन्तु एकान्तिक रुप से तथा आत्यन्तिक रुप से नहीं होती है, अर्थात् दृष्टोपाय से दुःख की निवृत्ति एकान्तिक तथा आत्यन्तिक रुप से कदापि नहीं होती है, इसीलिए दुःख की एकान्तिक तथा आत्यन्तिक रुप से निवृत्ति के लिए सांख्यशास्त्रोक्त उपाय ही ठीक है।

इस प्रकार से सांख्यशास्त्र के विषय को जानने की इच्छा नहीं हो सकती है, यदि दुःख नाम की कोई वस्तु ही जगत् में न हो? होने पर भी उसे छोड़ने की इच्छा न होती हो, छोडने की इच्छा होते हुए भी दुःख का समुच्छेद (निवृत्ति) अशक्य हो अर्थात् शक्तिसाध्य न हो। और वह दुःख की अशक्य समुच्छेदता दो प्रकार से हो सकती है, या तो दुःख नित्य हो, अथवा दुःख के उच्छेद (निवृत्ति) के उपाय का ज्ञान न हो। अथवा उपाय होने पर भी सांख्यशास्त्र प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा कोई और दूसरा सरल उपाय हो तब भी सांख्यशास्त्र प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना व्यर्थ है।

परन्तु संसार में दुःख नहीं है, ऐसा भी नहीं है, दुःख अनुभवसिद्ध है, अतः अवश्य है; अथवा दुःख अजिहासित है अर्थात् छोडने की इच्छा का विषय नहीं है, यह भी नहीं

कहते; इसी अभिप्राय से कारिकाकार कहते हैं – दुःखत्रयाभिघातादिति, तीन प्रकार के दुःख हैं – आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। इनमें आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है – शारीरिक और मानसिक।

1 शारीरिक दुःख – वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं ।

2 मानसिक दुःख – काम, क्रोध, लोभ मोह भय, विषाद्, तथा सुन्दर शब्द स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों की प्राप्ति न होने से उतपन्न दुःख मानसिक दुःख होता है।

ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य होने के कारण आध्यात्मिक कहलातें हैं। बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है। आधिभौतिक और आधिदैविक। इनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावरों से उतपन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक तथा यज्ञ राक्षस, विनायक ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है।

इस प्रकार इन्हीं त्रिविध दुःखों की सार्वकालिक निवृत्ति ही प्राणिमात्र का परमपुरुषार्थ है। संसार के सभी पदार्थ सत्त्व रजस और तमस रुप प्रकृति के विकार होने के कारण सुख दुःख और मोहात्मक है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के नित्य होने के कारण यह दुःख भी नित्य है।

दुःख रजोगुण का परिणाम और सभी के द्वारा अनुभवनीय है। अन्तःकरण में वर्तमान चेतनशक्ति जो अत्यन्त असह्य प्रतिकुल वेदनीय सम्बन्ध है, यही इन दुखों की जिज्ञासा में हेतु है, अतः दुखों की सत्ता को अस्वीकृत नही किया जा सकता। सभी मनुष्य दुःखों के प्रभाव से पीडित है इसलिए इनका समूल उच्छेद चाहते हैं।

दुःख के प्रहार से पीड़ित होने के कारण उसके विषय में जिज्ञासा होती है। अतः सांख्यशास्त्र दुःखों के निवारण का उपाय बतलाता है। दुःख की जिज्ञासा की प्राप्ति में प्रयोग किये जाने वाले लौकिक तथा वैदिक उपायों की अनुपयोगिता को वह सिद्ध करता है। यद्यपि इन दुःखों के परिहार के अनेक लौकिक उपाय विद्यमान है और वे बहुत सरल तथा सुलभ है।

जिस प्रकार शारीरिक दुःखों को दूर करने के लिए श्रेष्ठ वैद्यों द्वारा रसायन, औषधिसेवन इत्यादि सरल उपाय है। सुन्दरस्त्री, पान, भोजन, लेप वस्त्र इत्यादि सुकर उपाय मानसिक दुःख के निवारण के लिये है। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति का उपाय जैसे नीतिशास्त्रों के सतत् अध्ययन से उतपन्न चातुर्य निर्बाध या निरुपद्रव स्थानों में वास इत्यादि सुकर है।

मन्त्रधारण, मन्त्रानुष्ठान और औषधि सेवन आदि सुकर उपाय आधिदैविक दुःखों के निवृत्यार्थ कहे गये हैं। अतः अत्यन्त सरल लौकिक उपायों के सुलभ होने पर दुःख निवृत्यर्थ इनकी ओर सबकी प्रवृत्ति होगी, क्योंकि कहा भी गया है –

अर्के चेन्मधुविन्देत किमर्थं पर्वतं ब्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।।

सांख्यशास्त्र में प्रतिपादित सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रुप तत्त्व ज्ञान के अनेक जन्मों के सतत अभ्यास और निरन्तर साधनों के द्वारा सिद्ध होने से अत्यन्त कठिन है, अतएव इस मार्ग में किसी की प्रवृत्ति नही होगी, परन्तु लौकिक उपायों के प्रयोग से दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि दुःख की निवृत्ति अनिवार्य रुप से नहीं

होती है। दुःख उपशमित होने पर पुनः प्रकट हो जाते हैं, इसलिये लौकिक उपायों के सरल और सुलभ होने पर भी दुःखों का अनिवार्य रुप से तथा सार्वकालिक समुच्छेद नहीं होता।

इसलिये लौकिक उपाय ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस तरह सांख्य शास्त्र आनुश्रविक उपायों की अनुप्रयोगिता को प्रमाणित करता है, यद्यपि "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्" अपामसोम अमृता अभूम इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्रमाणित होता है कि वैदिक क्रियाकलाप, यज्ञानुष्ठान, आदि स्वर्गरुप उत्कृष्ट फल को प्रदान करने वाले हैं जो दुःख भाव तथा दुःख विशेष रुप है।

यन्नदुःखेन समभिन्नं न च ग्रन्थमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्

त्रिविध दुःख के प्रतिकार में वैदिक उपाय भी सरल है तथा सांख्य शास्त्र में प्रतिपादित विवेकख्याति की अपेक्षा अधिक सरल है। इसलिए हो सकता है कि कठिन और दुःसाध्य शास्त्र की ओर किसी की प्रवृत्ति ही नही हो, किन्तु दुःख निराश में बतलाए गये यज्ञादि उपाय भी लौकिक साधनों के सदृश ही हैं, क्योंकि वे सभी उपाय अशुद्ध एवं विनाशशील तथा विषम फल को आविर्भूत करने वाले है। वैदिक उपायों में यज्ञानुष्ठानादि से प्राप्त होने वाले स्वर्ग रुप फल क्षयिष्णु होता है, क्योंकि जो जो कार्य होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट पट इत्यादि कार्यः "यद् यत्कार्यं तत्तदनित्यम्, स्वर्गादिकं क्षयित्वं भावत्वे सति कार्यत्वाद् घटवत्।"

समग्र सांख्यकारिका में आर्या छन्द का प्रयोग है, जिसका लक्षण निम्न प्रकार है–

यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्राः तथा तृतीयेपि च।
अष्टादशद्वितीये,चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।।

इसका प्रयोग भी समीचीन है, क्योंकि आर्या का अर्थ भी दुःखों का निराकरण ही है – "आरयति प्रेरयति निवर्तयति दुःखं याति गच्छति च आत्मज्ञानाभिमुखं यया इति आर्या। अथवा आरुत् आत्मतत्त्वज्ञानस्य समीपे याति अनया इति आर्या"।

ग्रन्थ के आरम्भ में दुःख शब्द का ग्रहण अमंगलकारी है, किन्तु तदपघात पद मंगलकारी है। अतः यहां दुःख का ग्रहण करके विनाश के लिये होने से युक्तिसंगत है।

इस तरह वैदिक उपाय भी न्युनाधिक दोष से युक्त होते हैं अतः लौकिक उपायों के समान वैदिक उपाय भी अविशुद्धि क्षय, अतिशय रुप तीन प्रकार के दोषों से युक्त होने के कारण दुःखों की सार्वकालिक निवृत्ति में सर्वथा अनुपयुक्त ही है, जबकि मानव दुःखों की आवश्यक रुप से सार्वकालिक निवृत्ति चाहता है, इसलिए लौकिक और वैदिक उपायों के सुकर और सुलभ होने पर भी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये अत्यन्त कठिन होने पर भी सांख्य दर्शन में प्रतिपादित व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान के विषय में जिज्ञासु रहा होगा –

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।2।।

व्याख्या –अनुश्रव (वेद) में विहित यागादिरुप आनुश्रविक उपाय भी पूर्वोक्त दृष्ट उपाय के समान हैं, क्योंकि यह आनुश्रविक उपाय भी अविशुद्धि दोष, क्षयदोष तथा अतिशय दोष इन तीन दोषों से युक्त है। अतः इस आनुश्रविक उपाय से विपरीत उपाय ही अर्थात् सांख्यशास्त्र – प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान ही दुःखत्रय की निवृत्ति के लिये श्रेयस्कर होगा और वह व्यक्त, अव्यक्त (प्रकृति) तथा ज्ञ –पुरुष, चेतन के विवेकज्ञान से होता है तथा वह विवेकज्ञानरुप तत्त्वज्ञान सांख्यसास्त्र से होता है, फिर सांख्यशास्त्र – प्रतिपाद्य उस तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। अतः दृष्ट या अदृष्ट उपाय से दुःखत्रयविनाशकरणं किम्, यह जिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती है।

दर्शन में प्रतिपादित व्यक्त अव्यक्त ज्ञ का विज्ञान ही दुःख की एकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति में सर्वोच्च उपाय है। सभी दुःखों का कारण अविद्या ही है अविद्या के ही कारण पुरुष प्रकृति का संयोग होता है इसी अविवेक, अभेद प्रतीति के कारण ही बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्ता एवं भोक्ता बनकर पुरुष सुखी एवं दुःखी होता है। अतः सांख्य दर्शन द्वारा बतलाए गए नियम से व्यक्त के स्वरुप का ज्ञान और इसके मूल कारण अव्यक्त प्रकृति का ज्ञान और इन दोनों से बिल्कुल अलग पुरुष के स्वरूप का सम्यक ज्ञान होता अज्ञानमूलक प्रकृति पुरुष के संयोग की समाप्ति हो जाती है, पुरुष को अपने सत्य तथा वास्तविक स्वरुप का ज्ञान हो जाता है कि मैं ना तो कर्ता हूं ना भोक्ता हूं। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला परिणाम रहित चेतन पुरुष हूं मैं सुख, दुःख मोहात्मक, त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वथा पृथक हूं।

विशेष –दृष्टवत का अर्थ लौकिक उपायों के समान, अनुश्रव का अर्थ है वेद, क्योंकि ये महर्षियों द्वारा परम्परा से सुने गये थे। अनुश्रव संबन्धी क्रिया कर्म ही आनुश्रविक हुए। क्षय का तात्पर्य नाशवान् है क्योंकि कर्म जन्य होने के कारण वैदिक उपाय भी कभी न कभी अवश्य नष्ट होंगे। यह धारणा दुःख का कारण बन जाती है। अतिशय में भी एक दूसरे की प्रगति को देखकर दुःख बना रहता है। इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष युक्त है। अन्त में मृत्युलोक का कारण बनते हैं। अतः ज्ञान सर्वोपरि है।

इस स्वर्गादि से परे अनैश्वर तत्त्व हैं –

न कर्मणा, न प्रजया, धनेन, त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति।।
अन्त में इसी विशुद्ध ज्ञान से ही आत्यन्तिक निवृत्ति होती है –
एवं तत्त्वाऽभ्यासान्नास्मि न मे, नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययादिविशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।।

17.3 सांख्यषास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विशय – कारिका 3

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः।।3।।

व्याख्या : प्रकृति की विकार रहित अवस्था मूलप्रकृति है। महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति एवं विकृति दोनो होते हैं। केवल विकृतियां सोलह होती हैं तथा जो न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है वह तत्त्व एकमात्र पुरुष है।

व्यक्ताव्यक्तज्ञ रुप जिस तत्त्वज्ञान का उल्लेख पूर्व कारिका में हुआ है, उसके अन्तर्गत आने वाले पच्चीस तत्त्वों को चार विभागों में वर्गीकरण करके विवेचन करते हैं जो

सांख्य शास्त्र का संक्षेप में निरुपण करने वाली चार विधाएं हैं। इनमें से कोई तत्त्व केवल प्रकृति है तो कोई विकृति। कुछ दोनों ही हैं तो एक तत्त्व ऐसा भी है जो दोनों में से कोई नही है। "प्रक्रियते उत्पद्यते अस्याः" इस व्युत्पत्ति से प्रकृति उसे कहा जाता है जिससे कोई अन्य तत्त्व उत्पन्न होता है, जो स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती, अपितु अन्य तत्त्वों को उत्पन्न ही करती है उसे मूलप्रकृति कहा है। चूंकि कार्य संघातरुप समूचे विश्व का भी वह मूल कारण है, इसलिए उसे मूलप्रकृति कहते हैं। इसका भी कोई अदृश्य मूल होगा ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आपतित होता है। क्योंकि फिर उसके मूल और उसके भी मूल किसी अन्य के होने की कल्पना का कहीं रुकाव संभव नहीं है। फिर अनवस्था की प्रामाणिकता किसी को भी स्वीकार नहीं। अथवा इसे मूल प्रकृति इसलिए कहा है कि महत् आदि अन्य प्रकृतियों का भी यहीं मूल अर्थात् आद्य कारण है। सत्त्व, रज एवं तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही मूलप्रकृति है जो पुरुष की तरह अनादि है। यह किसी से उत्पन्न नहीं है, यही इसकी विशेषता है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए इस कारिका में अविकृति पद का प्रयोग मूलप्रकृति के लक्षण के रुप में किया है। "अजन्यत्वे सति जनकत्वम्" यही मूल प्रकृति का लक्षण है। यही अव्यक्त है। क्योंकि किसी भी तत्त्व की अभिव्यक्ति गुणों से ही होती है। सत्त्व, रज, एवं तम वस्तुतः द्रव्य हैं गुण नहीं। गुण इनकी संज्ञा है। इनकी साम्यावस्था ही मूल प्रकृति है। उस समय प्रकृति इन गुणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाती।

इस प्रकार कृत्रिम–अकृत्रिम जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, उस सबका मूल स्थूलभूत है उनके भी मूल स्थूलभूत पंचतन्मात्राएं हैं। इन पंचतन्मात्राओं का मूल अहंकार है, तथा अहंतत्त्व का मूल महत्तत्व है। इस महत्तत्त्व का भी जो मूल है उसी के लिए मूलप्रकृति पद का प्रयोग करिका में हुआ है। इसी को सांख्य दर्शन में प्रधान पद से भी अभिहित किया जाता है। सांख्यसूत्र में प्रकृति की इस मूलता का विधान करते हुए कहा है कि चूंकि मूल में पुनः मूल नहीं होता है अतः मूल प्रकृति वह है जो औरों का मूल है पर उसका कोई मूल नहीं।

महत् अहंकार तथा रुप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द नामक पांच तन्मात्राएं; ये सात प्रकृति – विकृति हैं। ये प्रकृति इसलिए हैं कि इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं। महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से मन दश इन्द्रियाँ तथा पांच तन्मात्राएं होती हैं। पंचतन्मात्राओं से पृथ्वी, जलस, तेज, वायु तथा आकाश रुप पंच महाभूत पैदा होते हैं। पंचतन्मात्राएं अहंकार से उत्पन्न होती हैं, अहंतत्त्व महत्ततत्त्व से, तो महत्तत्त्व भी मूल प्रकृति से उत्पन्न होता है। इस प्रकार इनको प्रकृति एवं विकृति दोनों कहना ठीक ही है।

षोडशकस्तु विकारः एव – सोलह तत्त्व केवल विकृत्ति हैं। इनमें एकादशेन्द्रियाँ एवं पंचमहाभूत आते हैं। इनमें से दशों इन्द्रियाँ एवं मन, अहंकार से उत्पन्न होते हैं तो पांच महाभूत पांच तन्मात्राओं से आती है। अतः ये विकृतियाँ है। पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है और ही किसी को उत्पन्न करता है। वह अनादि होने के साथ अपरिणामी भी है। अतः उसे न प्रकृति न विकृति पद से अभिहित किया है। वह सर्व भोक्ता है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है बुद्धि रुप नहीं। बुद्धि में आए हुए विषय का पुरुष उपभोग तो कर लेता है, पर स्वयं परिणामी नहीं है।

विशेष : गीता में प्रकृति और पुरुष का इस प्रकार वर्णन है –
कार्य–करण –कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुष–सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।

हम सुख चाहते हैं तथा उसकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहते हैं फिर भी वह अलभ्य ही बना रहता है । इसके ठीक विपरीत हम दुःख नहीं चाहते तथा उससे बचने के लिए सदा सचेष्ट भी रहते हैं फिर भी हम दुःखी रहते हैं। इस प्रकार दुःख से उद्विग्न रहकर सुख की कामना करते रहना ही हमारा स्वभाव है। प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख है; दुःख क्या और क्यों है? इसका अन्त संभव है कि नहीं? और यदि संभव है तो स्थायी रुप से या क्षणिक? इत्यादि प्रश्नों का उठना किसी भी प्रबुद्ध व्यक्ति के लिये सर्वथा स्वाभाविक है। दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए लोगों ने सदा से अनेक उपायों का आविष्कार किया है क्योंकि कहने या चाहने मात्र से दुःख का अन्त नहीं होता। किन्तु जब तक दुःख के स्वरुप एवं उसके मूल कारण का यथार्थ रुप से ज्ञान न हो जाय तब तक उसके निवारण का प्रयास व्यर्थ है।

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगनिदान, रोग का निराकरण तथा उसके निराकरण के उपाय, ये चार विवेच्य विषय हैं, उसी प्रकार सांख्यशास्त्र का भी विवेच्य विषय दुःख, दुःख का कारण, दुःखहानि और उसके उपाय का निर्धारण है। विविध प्रकार की दुःख की ज्वाला से निरन्तर दह्यमान प्रत्येक जीव दुःख का अन्त ही चाहता है।

त्रिविध दुःख : दुःख के तीन मुख्य प्रकार हैं; आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। सामान्य रुप से वात, पित्त और कफ के वैषम्य के कारण उत्पन्न होने वाले रोग आदि शारीरिक, काम, क्रोध, आदि से उत्पन्न मानसिक दुःख तथा उभयविध दुःख आध्यात्मिक इसलिये कहे जाते हैं कि ये आत्मा के लिंग, मन, बुद्धि अहंकार एवं उभयविध इन्द्रियों से संयुक्त शरीर में होते पाये जाते हैं। आत्मा अर्थात् पुरुष में इनके मूल कारण गुणों का सर्वथा अभाव होने से ये उसमें नहीं हो सकते। वायु, अग्नि एवं जल के देवताओं के प्रकोप से संभाव्यमान आंधी, तुफान, अग्निकांड एवं बाढ़ आदि से होने वाले दुःख आधिदैविक तथा सिंह, व्याघ्र आदि भूतों अर्थात् प्राणियों से पहुंचने वाले दुःख ही आधिभौतिक हैं। शारीरिक एवं मानसिक समग्र दुःखों को आध्यात्मिक इसलिए कहते हैं कि इन सबका उपचार आन्तरिक उपाय से होता है। जो दुःख औषधि आदि के शरीर के भीतर पहुंचा देने से दूर होते हैं अथवा जिनका उपशम शम्, दम, तितिक्षा आदि से होता है उन्हें ही आध्यात्मिक कहा है। बाह्य दुःख दो प्रकार के होते हैं – आधिदैविक तथा आधिभौतिक। यहीं त्रिविध दुःख है। प्रतिकूल वेदनीय होने से तीनों ही हेय हैं।

दुःख कारण : दुःख का कारण क्या है यह एक जटिल प्रश्न है। जहाँ तक रोगों का सम्बन्ध है उनका कारण आहार विहार में व्यतिक्रम हो सकता है, पर आंधी तूफान आदि आधिदैविक एवं सिंह, व्याघ्र रुप आदि आधिभौतिक दुःखों के लिये व्यक्ति या समाज कहाँ तक उत्तरदायी है। जन्म एवं मरण भी दुःख ही हैं जो मनुष्य क्या प्राणिमात्र के वश की बात नहीं। फिर दुःख का वास्तविक या मूल कारण क्या है? सांख्यशास्त्र बताता है कि दुःख स्वभाव से है। हमारा शरीर ही नहीं निखिल जगत् जिन उपादानों से बना है दुःख का मूल भी उन्हीं में है। निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण मूल प्रकृति है जो गुणात्मिका है। सत्त्व, रज एवं तम नामक तीनों गुणों में रजोगुण ही दुःख का मूल बिन्दु है। आत्मा को छोड़कर निखिल ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा तत्त्व शेष नहीं बचता जिसमें रजोगुण सम्मिलित न हो। रजोगुण का कार्य ही

दुःख है। इस प्रकार दुःख जीवन का एक सत्य है, जो कहीं ऊपर से लादा नहीं जाता अपितु अपने में ही विद्यमान है।

शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के कारण तो स्पष्ट रुप से हमारे मन, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियाँ ही हैं जिनकी उत्पत्ति तीनों गुणों से ही मानी गई है। सिंह, व्याघ्रादि एवं आंधी तूफान से होने वाले दुःख भी आधिदैविक एवं आधिभौतिक होने से त्रिगुणात्मक ही हैं। उनका प्रकोप भी रजोगुण के क्षोभ से ही होता है।

पुरुष अनादिकाल से ही प्रकृति के चंगुल में फंसा है। प्रकृति ने इसे सूक्षम एवं स्थूल शरीर का चोंगा पहना रखा है जो त्रिगुणमय है। इन सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों से पुरुष बाह्य पदार्थों का उपयोग करता है। भोग एक प्रकार का कार्य है जो संस्कार पैदा करता है। उन संस्कारों को भोगने के लिए पुनः शरीर चाहिये। शरीर पाकर व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त न हो यह कैसे हो सकता है क्योंकि उसी के लिये तो शरीर मिलता है। कर्म क्या अच्छे क्या बुरे सभी सुखदुःखमोहात्मक ही होते हैं। इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों के भोग के लिये उत्तरोत्तर जन्मों में शरीर मिलते हैं, जिनसे सम्पादित कर्म संचित होते रहते हैं। इनके फल का जब तक भोग नहीं हो जाता ये विनिवृत्त नहीं होते। अतः ये कर्म ही हमें उपलभ्यमान सुखदुःखमोह के निदान हैं।

दुःख–निवारण : दुःख के कारणों को देखते हुए उसके निवारण का प्रश्न बडा जटिल एवं असंभव सा प्रतीत होता है, क्योंकि शरीर के निवारण मात्र से दुःख का निवारण बन नहीं पाता। दुःख निवारण का अर्थ उसका अत्यन्ताभाव तो हो नहीं सकता क्योंकि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्तेक कार्य का अपना कारण होता है और इस कारण परम्परा से वह कार्य अपने मूल कारण में निरन्तर बना रहता है, कार्य के रुप में तो उसका आविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है। विनाश या सर्वथा निराकरण नहीं। यही कारण है कि किसी भी दुःख की निवृत्ति सर्वथा (एकान्तिक) एवं सर्वदा के लिए (आत्यन्तिक) नहीं हो पाती। अथवा जब तक स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर बने रहेंगे तब तक भोग होता रहेगा और दुःख भी बना ही रहेगा। अतः दुःख का निवारण वस्तुतः जन्मजन्मान्तर के कर्म एवं तज्जन्य सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का ही निवारण है।

दुःख निवारण के उपाय : दुःख के साथ ही दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा को भी यदि अनादि कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकृति ने हमें स्वभाव से दुःख दिया है उसी ने उसके निवारण के उपाय के अनुसंधान की शक्ति भी हमें प्रदान की है। रजोगुण का कार्य दुःख है तो उसके कारण एवं निवारण के उपाय का ज्ञान सत्त्व गुण का कार्य है जो रजोगुण के साथ ही प्रकृति का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंश है। हम स्वभाव से ही दुःखी पर स्वभाव से ही ज्ञानी भी हैं। अतः मानव ने दुःख निवृत्ति के अनेक उपायों का अनुसंधान कर रखा है।

रोगरुप शारीरिक दुःखों के प्रशम एवं निवारण के लिए नाना प्रकार की औषधियों एवं जड़ी–बूटियों का विधान आयुर्वेद प्रभृति चिकित्सा–शास्त्रों में उपलब्ध होता है। मानसिक दुःख का प्रशम कमनीय पदार्थों के उपभोग से सुतरा हो जाता है यह अनुभव सिद्ध है। जहाँ तक दैवी प्रकोपों एवं ग्रह कृत दुःखों का संबन्ध है, उपयुक्त मणि एवं मन्त्र आदि के प्रयोग से उनकी शान्ति करने की प्रथा समाज में विद्यमान ही है। आधिभौतिक दुःख से बचने के लिए तो निरन्तर सावधानी बरतना पर्याप्त है जिसकी जानकारी नीतिशास्त्र में निपुणता एवं शिष्ट जनों के उपदेशों से हो जाती है। इस प्रकार दुःख के तीनों प्रकारों के प्रशमन के लिए उक्त अनेक प्रकार के उपायों का विधान हुआ है जिन्हें लैकिक उपाय कहते हैं।

इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं कि ये उपाय शाश्वत नहीं है। इनसे दुःख की सामान्य रुप से निवृत्ति की चर्चा करना ही व्यर्थ है। क्योंकि इनसे किसी विशेष प्रकार के दुःख का ही प्रशमन संभव है जिसके लिये ये विहित हैं। उसमें भी इनके प्रयोग से उस दुःख विशेष का निवारण अवश्य हो जाएगा ऐसी बात भी नहीं है। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि किसी रोग विशेष की प्रसिद्ध दवा भी सबको एवं सदा लाभ नहीं करती। कभी काम करती है तो कभी काम नहीं करती। जब वह काम कर जाती है तब भी ऐसा नहीं होता कि एक बार निवृत्त दुःख सदा के लिए समाप्त हो जाय। अपितु इसके विपरीत वह औषध या उपाय कुछ समय के लिए ही कारगर होती है। इसलिये श्रुति को याज्ञिक कर्मकांड रुप एक ऐसे उपाय का विधान करना पड़ा जिससे दुःख की एकान्तिक अर्थात् पूर्ण रुप से एवं आत्यन्तिक अर्थात् सदा के लिए निवृत्त हो सके। स्वर्ग एक ऐसी जगह है जहाँ पहुंचने पर दुःख से सर्वथा छुटकारा हो सकता है। स्वर्ग के स्वरुप का निरुपण करते हुए कहा है कि –

यन्नदुःखेन समभिन्नं न च ग्रन्थमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।।

श्रुति भी कहती है "अपाम् सोमममृता अभूम"। यज्ञ में सोम पान करते ही हम अमर हो जायेंगे। इस प्रकार वैदिक कर्मकांड का आविर्भाव भी दुःख–निरोध के उद्देश्य से ही हुआ है। यज्ञ काम्य कर्म है। परिश्रम से धन कमाकर उसके द्वारा यज्ञ सम्पादित कर व्यक्ति मृत्यु के बाद स्वर्ग पहुंचता है जहाँ वह अपने पुण्यकर्मों के फल का उपभोग सुखपूर्वक करता है। अनन्तर पुनः मनुष्य रुप में जन्म लेकर यज्ञ–यागादि करना और पुनः स्वर्ग की प्राप्ति करना, यही मानव जीवन का लक्ष्य है। मीमांसा का कर्मवाद इसी का विधान करता है।

सांख्य शास्त्र कहता है कि यह ठीक है कि वैदिक कर्मकांड से उस स्वर्ग की प्राप्ति होती है जहाँ किसी वस्तु की कमी न होने से दुःख नहीं होता है किन्तु एक तो वैदिक कर्मकांड सबके लिए सुलभ नहीं है, क्योंकि यह केवल श्रमसाध्य ही नहीं अपितु उसके लिये पर्याप्त धन की भी अपेक्षा होती है, दूसरे उसमें अन्य प्रकार के भी अनेक दोष हैं। प्रथम दोष यह है कि उसमें पशुहिंसा होती है जो हमारी मानसिक पवित्रता को भ्रष्ट कर देती है। किसी दूसरे प्राणी को मृत्यु का कष्ट देकर हम अपने को सुखी बनाना चाहते हैं, यह बात कम कष्टकर नहीं है। अतः यज्ञादि कर्मकांड से स्वर्गरुपी सुख प्राप्त करने का प्रयास एक घृणित उपाय है। "स्वार्थी दोषं न पश्यति" न्याय से यदि इसे स्वीकार भी कर लिया जाए तो भी वैदिक कर्मकांड से प्राप्त स्वर्ग सुख में भी दुःख के लिये स्थान बना रहता है। क्योंकि जैसा विधान है, स्वर्ग में भी व्यक्ति के द्वारा सम्पाद्य कर्म के अनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है। बड़े यज्ञों के कर्ता वहाँ पर भी अधिक अधिकारों एवं सुख सामग्रियों का उपभोग करते हैं तो साधारण यज्ञों का कर्ता साधारण ही बना रहता है जो व्यक्ति के मन में ईर्ष्या एवं मात्सर्य पैदा करता है, फिर वह सुखी कहाँ है? तथा इन सबसे बडी बात तो यह है कि "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति" के विधान के अनुसार वह सुख भी स्थायी नहीं है। अतः दुःख निवृत्ति के लौकिक उपायों की तरह ही वैदिक उपाय भी दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रुप से निवृत्ति करने में समर्थ नहीं होने से जिज्ञासु के लिए बहुत उपादेय नहीं है।

इस प्रकार लौकिक एवं वैदिक किसी भी उपाय से दुःख से छुटकारा पाते न देख सांख्यशास्त्र ने व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान के सिद्धान्त का आविष्कार किया है। इसके अनुसार व्यक्त अर्थात् श्यमान जगत्, अव्यक्त अर्थात् उसका मूल कारण जो दृष्टिगोचर नहीं

होता अपितु केवल बुद्धिगम्य है तथा ज्ञ अर्थात् दोनों के ज्ञाता के स्वरुप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख की आत्यन्तिक एवं एकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। सांख्यशास्त्र का कथन है कि मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, पुरुष की यह अनुभूति अपनी नही है अपितु प्रकृति के गुणों का परिणाम है। व्यक्ति जैसे ही यह समझ लेता है कि ज्ञान का सूत्र अलग है और क्रिया का अलग तथा समूचा दुःख समुदाय क्रिया का परिणाम है तो उसे शान्ति मिलती है और फिर वह दुःखी नहीं होता। अन्त में जीवन के इस रहस्य को जान लेने पर जन्म मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है। जन्म ग्रहण करने पर तो दुःख का अनुभव निश्चित रुप से होगा। दुःख से निवृत्ति पाना है तो जन्म मरण के चक्र से निवृत्त होना होगा। जन्म आदि का कारण हमारा अज्ञान है। हम जगत् को भोग्य एवं अपने को उसका भोक्ता मानते हैं। फिर भोग के परिणाम को स्वयं पर आरोपित कर लेते हैं। हमारे में पुरुष तत्त्व प्रकृति से सर्वथा भिन्न है जो निर्गुण, निर्विकार एवं निष्कलुष है। दुःख रजोगुण का कार्य है। गुण प्रकृति के स्वरुप के आधायक हैं। पुरुष को वे कदापि नहीं व्यापते। व्यक्ति की अपने को चेतन पुरुष से अभिन्न तथा जड़ प्रकृति से भिन्न समझना चाहिये। हमारे मन, बुद्धि, एवं अहंकार प्रकृति के तत्त्व हैं। पुरुष तत्त्व इनसे भिन्न है। जो इस रहस्य को जान लेता है वह त्रिविध दुःख से पीडित होता ही नहीं, जन्म–मरण के चक्र से भी मुक्त हो जाता है।

यहां एक प्रश्न और विचारणीय रह जाता है कि सांख्य के ही सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार जो भी कार्य है वह सत् है उसका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। दुःख भी कार्य है अतः उसकी एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति संभव ही नहीं है। जब दुःख का सर्वथा निरोध सिद्धान्ततः संभव ही नहीं तो तो उसके लिये शास्त्र की प्रवृत्ति की क्या आवश्यकता है?

इसका उत्तर यह है कि दुःख नित्य है इसमें कोई सन्देह नहीं। पर रजोगुण के कार्य के रुप में वह सूक्ष्म रुप से बना रहे इसमें किसी को आपत्ति नहीं। स्थूल रुप से जब वह हमारे अनुभव का विषय होता है तभी हमें कष्ट देता है। अतः उसका भोगारुढ न होना ही उसकी निवृत्ति है, सर्वथा अभाव नहीं। क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार तो किसी भी वस्तु का सर्वथा अभाव होता ही नहीं। सांख्य शास्त्र में विहित दुःख की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति का यही अर्थ है कि हमें दुःख की अनुभूति न हो, जो प्रकृति एवं पुरुष अथवा बुद्धि एवं आत्मा सर्वथा भिन्न भिन्न तत्त्व हैं. इसके ज्ञान से ही संभव है अन्यथा नहीं। सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति का यही उद्देश्य एवं प्रयोजन है।

17.4 सारांश

सांख्यशास्त्र में ब्रह्मांड के निखिल तत्त्वों को मूलतः दो वर्गों में रखा गया है – प्रकृति एवं पुरुष। प्रकृति की दो अवस्थाएं होती हैं – अव्यक्त और व्यक्त। पुरुष को ही ज्ञ कहते हैं। व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ के स्वरुप की यथार्थ रुप से जानकारी ही व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान है। इनमें से अव्यक्त एवं ज्ञ तो एक एक प्रकार के ही होते हैं। पर व्यक्त के 23 भेद प्रभेद होते हैं।

व्यक्त का प्रथम रुप महत्ततत्त्व है। जिसे हम बुद्धि कहते हैं उसी का समष्टि रुप महत्तत्व है। दूसरा भेद अहंकार है। इस अहंकार के एक और एकादश इन्द्रियाँ तथा दूसरी ओर पंचतन्मात्राएं मिलकर 16 प्रभेद होते हैं। इन्द्रियों में से पांच ज्ञान की हैं तो पांच कर्म की तथा एक उभयात्मक है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती

हैं। मन ज्ञान एवं कर्म दोनों का साधक होने से उभयात्मक होता है। इनके अतिरिक्त गन्ध, रस, रुप, स्पर्श एवं शब्द नामक पांच तन्मात्राएं होती है। ये सब अहंकार के ही प्रभेद हैं। इन्ही तन्मात्राओं से अलग–अलग पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है जिनके नाम पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश हैं। इस प्रकार निखिल ब्रह्माण्ड में निहित तत्त्वों की कुल संख्या पच्चीस हो जाती है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।।

इन पच्चीस तत्त्वों में से एक है मूल प्रकृति जो किसी का विकार न होने से अविकृति तथा उसके अनेक विकार होने से प्रकृति कहलाती है अर्थात् उसके तो विकार संभव हैं पर वह किसी का विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त महत्तत्त्व, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्राएं प्रकृति एवं विकृति दोनो हैं। क्योंकि एक ओर जहाँ वे किसी से पैदा होती हैं दूसरी ओर वे दूसरे तत्त्वों को पैदा भी करती हैं। महत्तत्व से उत्पन्न होकर इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं को पैदा करता है। तन्मात्राएं अहंकार से पैदा हो महाभूतों को पैदा करती हैं। शेष 16 तत्त्व पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, मन एवं पंचमहाभूत ये विकृति मात्र हैं जो किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न ही होते हैं दूसरे को उत्पन्न नहीं करते। इन सबसे पृथक वह तत्त्व है जो न किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है, अतः वह न प्रकृति है और न विकृति। वही तत्त्व पुरुष है।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः।।

इस प्रकार इस इकाई में आपने सांख्याकारिका में वर्णित दुःख के प्रकारों, व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ तथा प्रकृति और उसके विकारों की संक्षिप्त जानकारी प्राप्त की। यह भी जाना कि त्रिविध दुःख व्यक्ताव्यक्तज्ञ की जानकारी से शमित होता है जो प्रकृति के एक रूप में होने वाले विकारों के परिणामस्वरूप घटते हैं।

17.5 शब्दावली

दुःखत्रय – से अभिप्राय दुःख के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों प्रकारों से है।

अभिघात – अभिघात पद का अर्थ पीडन, तथा प्रतिकूलवेदनीयतात्मक सम्बन्ध माना है जो दुःखत्रय से चेतनाशक्ति का होता है।

दृष्टवत् – इसका अभिप्राय दृष्ट अर्थात् लौकिक उपाय की समानता से है ।

आनुश्रविक – गुरुपाठादानुश्रुयते की व्युत्पत्ति से अनुश्रव वेद को कहते हैं। क्योंकि ये गुरु के उच्चारण को सुनकर ही पढ़े जाते हैं । अथवा ये गुरुपरम्परा से सुने ही जाते हैं, कोई इनकी रचना नहीं करता। अतः ये अनुश्रव कहे जाते हैं।

ज्ञ – जो विविध प्रकार की गुणवृत्ति को चेतनाशक्ति के द्वारा जानता है वह ज्ञ है तथा वही पुरुष है।

मूलप्रकृति– प्रकृति उसे कहा है जिससे कोई अन्य तत्त्व उत्पन्न होता है, जो स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती, अपितु अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करती है, उसे मूलप्रकृति कहते हैं।

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमूदीसहित।
- डा. गजाननशास्त्री मूसलगांवकरकृत हिन्दी अनुवादसहित, चौखम्भासंस्कृत संस्थान, सातवां संस्करण 2000।
- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्यसहित, पं.श्रीज्वालाप्रसादगौडकृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पुनर्मुद्रित, 2001।
- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकासहित, डा. रमाशंकरत्रिपाठीकृत तत्त्वप्रभा संस्कृतटीका, हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी।
- सांख्यकारिका. ईश्वरकृष्ण, माठरकृतमाठरवृत्तिसहित, पं. थानेशचन्द्र उप्रेतीकृत हिन्दीव्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2001।
- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदी, पण्डित श्रीष्णवल्लभाचार्यस्वामीनारायण विरचिता सांख्यकारिका तत्त्वकौमूदीकिरणावली, श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामीनारायणकृतसांख्यकारिकाभाष्यम्, गौडपादभाष्यसहितम्, वाराणसी, व्यास प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1989।

17.7 अभ्यास प्रश्न

1. दुःख कितने प्रकार का है?
2. आध्यात्मिक दुःख कितने प्रकार का है?
3. आधिभौतिक दुःख किसे कहते हैं?
4. आधिदैविक दुःख किसे कहते हैं?
5. व्यक्त के अन्तर्गत कितने तत्त्व आते हैं?
6. अव्यक्त के अन्तर्गत कितने तत्त्व आते हैं?
7. अव्यक्त को अन्य किस नाम से जानते हैं?
8. प्रकृति–विकृति के अन्तर्गत कितने तत्त्व आते हैं?
9. विकार कितने हैं?
10. सांख्य दर्शन में कितने तत्व हैं?

इकाई 18 प्रमाण निरूपण

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप –

- सांख्य सम्मत प्रमाणों का विवेचन करने में सक्षम होंगे।
- प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती, यह जान सकेंगे।
- सांख्य भी प्रमाणों को स्वीकार करता है; यह भी जान सकेंगे।
- प्रमाणों से ही संपन्न तत्वों की प्रमाणिकता सिद्ध होती है, इस लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया की विवेचना करने में समर्थ होंगे।

18.1 प्रस्तावना

इस इकाई में सांख्य सम्मत प्रमाणों का विवेचन किया गया है। कोई भी शास्त्र प्रमाणों के बिना अपने स्वीकृत तत्त्वों को सिद्ध नहीं कर सकता है। सांख्य दर्शन जिन तत्त्वों को स्वीकार करता है उनकी सिद्धि के लिए प्रमाण को मानना आवश्यक है। अतः वह तीन प्रमाणों को स्वीकृति देता है। वे तीन प्रमाण हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। इन्हीं तीन प्रमाणों से सांख्य अपने तत्त्वों की प्रमाणिकता सिद्ध करता है। इस इकाई में इन्हीं तीन प्रमाणों का विस्तृत विवेचन यहां आगे विभिन्न कारिकाओं के माध्यम से किया गया है।

18.2 प्रमाण निरूपण – कारिका 4–8

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणासिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।।4।।

कारिकार्थ : प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है और (अन्य) सभी प्रमाणों के असिद्ध होने के कारण (सांख्य दर्शन में) तीन प्रमाण स्वीकृत हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्य।

व्याख्या : सांख्यदर्शन का मुख्य विवेच्य प्रकृति और पुरुष है। प्रकृति और पुरुष प्रमेय हैं। इसी आधार इस दर्शन को प्रमेय विद्या का प्रतिपादक माना जाता है। परन्तु इस

कारिका में प्रमाणों का विवेचन है जो इस शास्त्र के प्रतिकूल प्रतीत होता है। इसी शंका के समाधान के लिए यहाँ कहा गया है –**प्रमेयसिद्धिःप्रमाणाद्धि**। अर्थात् प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। यह सत्य है कि सांख्यशास्त्र प्रमेयविद्या का प्रतिपादक शास्त्र है। परन्तु बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः यहाँ प्रमाण का विवेचन करना समुचित है।

प्रमेय और प्रमाण क्या हैं? पहले प्रमेय को समझते हैं। सांख्य दर्शन में कुल 25 तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। वे तत्त्व हैं –

1 प्रकृति/मूल प्रकृति –1

2 महत् –1

3 अहंकार –1

4 पंचतन्मात्राएं –रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द – 5

5 विकार– पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन–16

6 पुरुष –1

सांख्यकारिका की कारिका 3 में इन तत्त्वों का विवेचन किया गया है। सांख्य दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि को अपने मूल प्रतिपाद्य प्रकृति का विकार मानता है। सम्पूर्ण जगत् इन्हीं 25 तत्त्वों से निर्मित है। इन्हीं 25 तत्त्वों को सांख्य दर्शन में प्रमेय कहा गया है। प्रमेय वह है जिसको प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है। ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं।

प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् अर्थात् प्रमा का असाधारण कारण ही प्रमाण है। संशय, विपर्यय, विकल्प और स्मृति आदि से रहित ज्ञान को प्रमा कहते हैं। अर्थात् दोष रहित ज्ञान या यथार्थ ज्ञान प्रमा है और प्रमा का असाधरण कारण या जिससे प्रमाणिक ज्ञान की प्राप्ति हो उसको प्रमाण कहते हैं। सरल शब्दों में ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। सांख्यकारिका के व्याख्याकारों ने इस कारिका में प्रयुक्त 'प्रमाणम्' पद को ही प्रमाण का लक्षण माना है। उनके अनुसार 'प्रमाणम्' पद लक्षण और लक्ष्य दोनों का बोधक है। प्रमाण पद की व्युत्पत्ति करने पर उसका लक्षण बनता है–**प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्** अर्थात् प्रमा का असाधारण कारण प्रमाण है। इस प्रकार यह प्रमाण का लक्षण हुआ। साथ ही यहाँ प्रमाण पद लक्ष्य भी है। लक्षण वाक्य में जिसका लक्षण दिया जाए उसको लक्ष्य कहा जाता है। यहाँ 'प्रमाणम्' पद में प्रमाण का लक्षण दिया गया है, इसलिए यह पद लक्ष्य भी है। इस प्रकार प्रमाण का लक्षण बनता है –**प्रमाणं प्रमाणम्**। इसमें एक (प्रथम) पद लक्ष्य है और दूसरा पद लक्षण।

अब प्रश्न उठता है कि इन 25 तत्त्वों की सिद्धि कैसे होती है? किन प्रमाणों से इन तत्त्वों को सिद्ध किया जा सकता है? इन तत्त्वों की सत्ता में क्या प्रमाण है? ये तत्त्व प्रमाण सिद्ध हैं या कपोलकल्पित। प्रस्तुत कारिका में इन्हीं प्रश्नों का निराकरण किया गया है।

सांख्यकारिकाकार ने उक्त प्रश्नों के समाधान में ही कहा है –**प्रमेयसिद्धिःप्रमाणाद्धि** अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है। बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है। इन तत्त्वों की सिद्धि में प्रमाण हैं। सांख्य दर्शन में इन तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। वे प्रमाण हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। प्रमाणों की संख्या न तीन से अधिक है और न ही कम। इसीलिए कारिका में कहा गया है–**त्रिविधंप्रमाणमिष्टम्**। अर्थात् तीन प्रमाण स्वीकृत हैं।

अन्य दर्शनों में अन्य भी प्रमाण माने गये हैं। प्रमाणों की संख्या के विषय में दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है। चार्वाक मतावलम्बी केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करते हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को प्रमाण माना गया है। प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति को मिलाकर पांच प्रमाण मानते हैं। मीमांसकों में कुमारिल भट्ट के अनुयायी इन पांच के अतिरिक्त अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। परन्तु सांख्य दर्शन केवल तीन प्रमाण को स्वीकार करता है –**त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्**।

सांख्यदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को असिद्ध मानता है अर्थात् इन तीन प्रमाणों के अतिरिक्त जो प्रमाण माने गये हैं, वे सभी प्रमाण के लक्षण से सिद्ध नहीं होते हैं या उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं तीन प्रमाणों में हो जाता है। इसीलिए कारिका में कहा गया है –**दृष्टमनुमानमाप्तवचनं चसर्वप्रमाणासिद्धत्वात्**। यहाँ दृष्ट पद प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए प्रयोग किया गया है। अनुमान तो विदित ही है। आप्तवचन से तात्पर्य है – आगम या शब्द प्रमाण। इस प्रकार सांख्य सम्मत तीन प्रमाण हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनका विस्तृत विवेचन कारिका 5 में किया गया है। सांख्य दर्शन इन तीन प्रमाणों का प्रयोग करके अपने प्रमेय की सिद्धि करता है।

अन्य शास्त्रों में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन के अतिरिक्त स्वीकृत प्रमाणों का संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् है –

1) **उपमान** : न्यायदर्शन में उपमान को प्रमाण माना गया है। दो सदृश पर असमान जातीय वस्तुओं में से एक को देखकर दूसरे का ज्ञान कराना या करना उपमान है। यथा –**गो एव गवयः**। गाय और गवय दो भिन्न जाति के परन्तु देखने में एक जैसे लगने वाले जानवर हैं। गाय का ज्ञान रखनेवाले पर गवय को न जानने वाले व्यक्ति को कहा जाए कि गाय जैया गवय होता है और वह व्यक्ति इस कथन के आधार पर गवय का ज्ञान करे तो ऐसा ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है। सांख्याचार्य वाचस्पति मिश्र इस प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन में करते हैं। आचार्य जयमंगल उपमान का अन्तर्भाव अनुमान और शब्द प्रमाणों में करते है।

2) **अर्थापत्ति** : मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति को प्रमाण माना गया है। किसा एक कथन के आधार पर दूसरे कथन का ज्ञान कराना या होना अर्थापत्ति अलंकार है। यथा–**पीनो देवदत्तः दिवा न भुक्तः** अर्थात् मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है। इस वाक्य से एक दूसरे वाक्य की प्रतीति होती है – दिन में नहीं खानेवाला मोटा देवदत्त रात्रि में अवश्य खाता है। इस दूसरे अर्थ या ज्ञान की प्रतीति अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। सांख्याचार्य अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं।

3) **अभाव** : वेदान्त और भट्ट मीमांसा दर्शन में अभाव को प्रमाण माना गया है। किसी वस्तु की अनुपलब्धि का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है। यथा–घटाभाव अर्थात् घट की अनुपलब्धि का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है। सांख्याचार्य इस प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करते हैं।

इनके अतिरिक्त संभव, ऐतिह्य, प्रतिभा और चेष्टा नाम से भी प्रमाणों का उल्लेख मिलता है। सांख्याचार्य इन सभी का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण में करते हैं।

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गीपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ।।5।।

कारिकार्थ : प्रतिविषय का अध्यवसाय दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। अनुमान (प्रमाण) तीन प्रकार का होता है और वह लिङ्ग–लिङ्गी पूर्वक (ज्ञान) होता है। आप्त श्रुति अर्थात् परम्परा से प्राप्त (ज्ञान) आप्तवचन (शब्द प्रमाण) है।

व्याख्या : इस कारिका में सांख्य सम्मत प्रमाणों का लक्षण दिया गया है। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है–प्रतिविषय का अध्यवसाय प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। यहाँ प्रतिविषय से तात्पर्य है–इन्द्रियों का विषय। हमारे पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और उनके पांच ही विषय हैं अर्थात् प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक विषय। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इनके विषय हैं। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से इन्हीं विषयों का ग्रहण होता है। ज्ञानेन्द्रियों के विषय–ग्राह्यता में कोई व्यतिक्रम नहीं है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से केवल शब्द का ग्रहण को सकता है, रूपादि का नहीं। इन्हीं विषयों को यहाँ प्रतिविषय कहा गया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध प्रतिविषय हैं। इन विषयों का अपने–अपने इन्द्रियों से साक्षात् होना **अध्यवसाय** है। अध्यवसाय की अवस्था में निश्चयात्मक ज्ञान होता है। जबतक वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता है तब तक अध्यवसाय नहीं होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त निश्चयात्मक ज्ञान अध्यवसाय है। इस ज्ञान में किसी प्रकार का संशय नहीं होता है। जब नेत्र का किसी रूपवान विषय से साक्षात् होता है और नेत्र उस वस्तु को भलिभांति ग्रहण कर लेता है तब उस वस्तु के ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं। परन्तु आँखें के सामने से कोई वस्तु चली जाए और आँख उसका ग्रहण न कर सके तब कोई ज्ञान गृहीत नहीं होता है। इसको अध्यवसाय नहीं कहा जाता है। यही बात समस्त ज्ञानेन्द्रियों के साथ समझनी चाहिए। इसप्रकार ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का निश्चयात्मक ज्ञान होना दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसीको कारिका में कहा गया है–प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। प्रत्यक्ष प्रमाण का कोई भेद नहीं होता है।

अनुमान प्रमाण का लक्षण है–लिङ्ग लिङ्गी पूर्वक होने वाला ज्ञान अनुमान होता है। हेतु को लिङ्गकहते हैं अर्थात् ज्ञान के साधन। लिङ्गी साध्य या कार्य को कहते हैं। इस प्रकार किसी हेतु से किसी साध्य अर्थात् ज्ञान की सिद्धि होना अनुमान प्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि अनुमान प्रमाण साक्षात् ज्ञान का विषय नहीं है। जिस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों के द्वारा सीधे बिना किसी अन्य हेतु के शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है, उस प्रकार से अनुमान प्रमाण में नहीं होता है। अनुमान प्रमाण में किसी हेतु के विना ज्ञान सम्भव नहीं है। इसको हम एक उदाहरण से समझते हैं। पर्वत पर धुआँ को देखकर उस पर्वत पर विद्यमान अग्नि का ज्ञान होता है। यहाँ पर्वत पर विद्यमान अग्नि का साक्षात् ज्ञान नहीं होता है, अपितु उस ज्ञान में धुआँ हेतु बनता है। इस प्रकार यहाँ धुआँ लिङ्ग है और अग्नि लिङ्गी है।

हेतु से साध्य की सिद्धि के लिए दो अनिवार्य शर्तें हैं–1 हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति का होना तथा 2 पक्षधर्मता का ज्ञान होना। साध्य के साथ हेतु का सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है। हेतु और साध्य के बीच दो प्रकार का सम्बन्ध होता है–सोपाधिक

एवं निरुपाधिक। इनमें से हेतु और साध्य का निरुपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है। तर्कभाषा में व्याप्ति की परिभाषा दी गई है–स्वाभाविकश्च **सम्बन्धो व्याप्तिः**। अर्थात् हेतु और साध्य के मध्य के स्वाभाविक सम्बन्ध को व्यप्ति कहते है। यहाँ स्वाभाविक से तात्पर्य है– बिना किसी आगन्तुक कारण के सम्बन्ध का होना स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। यथा– धुआँ से अग्नि का अनुमान होना। यह प्रमाणसिद्ध तथ्य है कि जहाँ–जहाँ धुआँ होता है वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है। धुआँ और अग्नि के सदृश ऐसे सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह सम्बन्ध व्याप्य–व्यापक भाव पर आश्रित होता है। धुआँ से अग्नि के अनुमान में धुआँ व्याप्य है और अग्नि व्यापक। जिसमें साध्य (ज्ञान का विषय) पहले से ही विद्यमान रहता है, उसको व्याप्य कहते हैं। व्याप्य से सिद्ध होने वाला ज्ञान साध्य या व्यापक कहलाता है। व्याप्य में व्यापक पूर्वसिद्ध होता है अर्थात् पहले से ही विद्यमान रहता है। व्याप्य–व्यापक भाव सम्बन्ध को ही अविनाभावनियम या नियतसाहचर्यनियम या सामान्याधिकरण भी कहा जाता है। अर्थात् व्याप्य में व्यापक निश्चित रूप से विद्यमान रहता है। यहाँ धूम्र और अग्नि की व्याप्ति बनती है–**यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः** अर्थात् जहाँ–जहाँ धुआँ है वहाँ–वहा अग्नि है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ धुआँ होता है वहाँ निश्चित रूप से अग्नि होती है, इसमें कोई संशय नहीं है।

प्रश्न – क्या अग्नि को व्याप्य और धूम्र को व्यापक मानकर **'यत्र यत्र वह्निस्तत्रतत्र धूमः'** की व्याप्ति बनाई जा सकती है? उत्तर – नहीं। जहाँ–जहाँ अग्नि है वहाँ–वहाँ धूम्र हो, यह अनिवार्य नहीं है। इन दोनों के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। अनेक ऐसे उदाहरण मिलते है जहाँ अग्नि तो है पर वहाँ धुआँ नहीं है, जैसे – आग का गोला।

अनुमान प्रमाण की दूसरी अनिवार्यता है – पक्षधर्मता का ज्ञान। पक्षधर्मता से तात्पर्य है–पक्ष में हेतु की विद्यमानता। यथा–पर्वत पर धूम को देखकर वहाँ अग्नि का ज्ञान होना। यहाँ पर्वत पक्ष है और पर्वत पर अग्नि की विद्यमानता तभी सिद्ध होगी जब पर्वत पर धूम विद्यमान हो। यदि पर्वत पर धूम नहीं है तो वहाँ अग्नि की विद्यमानता भी सिद्ध नहीं होगी। यही पक्षधर्मता का सिद्धान्त है।

इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर लिङ्ग(हेतु) से लिङ्गी(साध्य) का ज्ञान अनुमान प्रमाण का विषय है। इसी को सांख्यकारिकाकार ने कहा है–**तल्लिङ्गलिङ्गीपूर्वकम्** यहाँ'तत्' सर्वनाम अनुमान के लिए आया है।

सांख्यकारिका में अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार बतलाये गये हैं परन्तु वहाँ उनका नाम नहीं दिया गया है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के तीन प्रकारों का वर्णन है–पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट। सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने प्रथमतः अनुमान प्रमाण के दो भेदों का उल्लेख किया है– वीत और अवीत। इनमें वीत के दो भेद हैं–पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। अवीत को ही शेषवत् अनुमान कहते हैं। अनुमान प्रमाण की संख्या के विषय में दर्शन शास्त्र में मतभेद है। कहीं पर अनुमान के दो तो कहीं पर तीन भेदों का वर्णन मिलता है और इसकी परिभाषा में भी भेद है।

पूर्ववत् अनुमान : कारण के आधार पर कार्य का अनुमान करना पूर्ववत् अनुमान है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण से कारण और कार्य का ज्ञान पहले से ही रहता है। जब कभी कार्य परोक्ष होता है और उसका कारण प्रत्यक्ष तब उस प्रत्यक्ष कारण के आधार पर उसके परोक्ष कार्य का अनुमान किया जाता है। यथा–आसमान में काले काले बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान करना। यहाँ बादल कारण है वर्षा कार्य। इसप्रकार कारण से कार्य का अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। परन्तु सांख्य दर्शन में हेतु (साधन या

कारण) और साध्य के बीच नियत साहचर्य सम्बन्ध के आधार पर होनेवाला अनुमान पूर्ववत् कहा गया है। हेतु और साध्य के बीच नियत साहचर्य सम्बन्ध से तात्पर्य है–जहाँ जहाँ हेतु रहता है वहाँ वहाँ साध्य भी अवश्य रहता है। यथा–जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होती है। इस आधार पर नियत साहचर्य सम्बन्ध बनता है–यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।

इसी साहचर्य नियम के आधार पर कहीं पर धूम को देखकर अनुमान कर लिया जाता है कि वहाँ अग्नि है। इस प्रकार नियत साहचर्य सम्बन्ध के आधार पर होने वाले अनुमान को पूर्ववत् कहा जाता है। इसको न्याय दर्शन में केवलान्वयी अनुमान कहा गया है।

शेषवत् **अनुमान** : कार्य के आधार पर कारण का अनुमान करना शेषवत् अनुमान है। यथा–सुबह चारो ओर पानी ही पानी देखकर रात्रि में वर्षा होने का अनुमान करना। यहाँ पानी कार्य और वर्षा कारण है तथा कार्य पानी से कारण वर्षा का अनुमान हो रहा है। यही शेषवत् अनुमान है। सांख्य दर्शन के अनुसार कार्य से कारण के अनुमान में कार्य तो दृष्टिगत होता है पर उसके कारण का निर्णय निषेध विधि से किया जाता है। अर्थात् कार्य और कारण का नियत साहचर्य पहले से ज्ञात नहीं होता है। इसमें कार्य के सम्भावित कारणों का एक–एक कर निषेध करके वास्तविक कारण तक पहुंचा जाता है। यथा–जगत् रूपी कार्य को देखकर उसके कर्त्ता ईश्वर का अनुमान। इसमें जगत् के विविध सम्भावित कारणों का निषेध कर अन्त में अनुमान किया जाता है कि इसका निर्माता ईश्वर ही हो सकता है। इसको केवलव्यतिरेकी अनुमान भी कहते हैं।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान : सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अनुमान की प्रक्रिया पूर्ववत् या शेषवत् के समान नहीं होती है। अर्थात् इसमें कारण से कार्य या कार्य से कारण का विमर्श किये बिना ही अनुमान किया जाता है। सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनुसार जहाँ किसी अन्य वस्तु के धर्म के ज्ञान के आधार पर किसी अन्य वस्तु का अनुमान किया जाए वहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। सामान्यतः अदृष्ट वस्तु का अनुमान सामान्यतोदृष्ट से किया जाता है। यथा– इच्छा आदि से आत्मा का अनुमान। इच्छा न तो आत्मा का कारण है ओर न ही कार्य परन्तु यह देखा जाता है कि आत्मा युक्त शरीर में ही इच्छा आदि क्रियाएं होती हैं। अतः इच्छा आदि क्रिया के आधार पर आत्मा का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इसको अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी कहते हैं।

शब्द प्रमाण : सांख्यकारिका में शब्द प्रमाण के लिए ही आप्तवचन शब्द का प्रयोग किया गया है। आप्तवचन का लक्षण है **–आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु**। अर्थात् श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है।

श्रुति क्या है ? सामान्य रूप से श्रुति पद का प्रयोग वेद के लिए किया जाता है। वेद के पर्याय वदों में श्रुति का भी उल्लेख है। वेद में प्रतिपादिक ज्ञान का प्रवाह श्रवण परम्परा से ही दीर्घ काल तक हुआ है, इसीलिए वेद को श्रुति कहते हैं। श्रुति पद की व्युत्पत्ति है–**श्रूयते इति श्रुतिः** अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक्य श्रुति है। तत्त्वकौमुदी के अनुसार वाक्य जनित वाक्यार्थ ज्ञान श्रुति है–**श्रुतिः वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञानम्।** परन्तु यहाँ समस्त श्रोतेन्द्रिय ग्राह्य वाक्य या सभी प्रकार के वाक्यार्थ ज्ञान को श्रुति कहना केवल औपचारिकता मात्र है। वस्तुतः श्रुति पद का प्रयोग वेद वाक्य और

पुराणादि या प्रामाणिक पुरुषों के वाक्य के लिए ही आया है।इसीको यहाँ आप्तवचन या शब्दप्रमाण कहा गया है –**आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु**।

वाक्यजनित ज्ञान की प्रमाणिकता दो प्रकार से सिद्ध होती है – स्वतः प्रामाण्य से और परतः प्रामाण्य से। स्वतः प्रामाण्य से तात्पर्य है–वैसे वाक्यों से जिनकी प्रमाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता न हो। जैन और बौद्ध दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन वेद को स्वतः प्रामाण्य मानते हैं। वेद वाक्यों को स्वतः प्रामाण्य मानने का अभिप्राय है कि इनका प्रमाण्य किसी अन्य प्रमाण के अधीन नहीं है। इसके विपरीत ऐसे वाक्यजनित ज्ञान जिनकी प्रमाणिकता किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध होती है परतः प्रामाण्य की कोटि में आते हैं। इसके अन्तर्गत किसी सिद्ध या श्रेष्ठ या व्यक्ति विशेष का कथन, पुराण, स्मृतिग्रन्थ आदि आते हैं। इनमें सिद्ध या श्रेष्ठ पुरुष के कथन की प्रमाणिकता वेद या प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है। यथा–किसी वृद्ध व्यक्ति ने बालक से कहा जंगल में शेर है, वहाँ मत जाना। इस कथन की प्रमाणिकता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार के शब्द प्रमाण लोक में प्रसिद्ध हैं। परन्तु दार्शनिक सम्प्रदाय में सिद्ध या श्रेष्ठ व्यक्ति के कथन को ही शब्द प्रमाण की श्रेणी में स्वीकार किया गया है, सामान्य पुरुष के कथन को नहीं । वस्तुतः वहाँ शास्त्रगत वाक्य की प्रमाणिकता का प्रश्न होता है। इसी प्रकार पुराण, स्मृति आदि शास्त्रगत वाक्यों की प्रमाणिकता वेद से सिद्ध मानी जाती है। अतः ये सभी परतः प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।।6।।

कारिकार्थ : सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण से तो अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति होती है और परोक्ष विषय उससे (सामान्यतोदृष्ट से) भी अगम्य होता है। (परोक्ष विषय) आगम प्रमाण से सिद्ध होता है।

व्याख्या : अतीन्द्रिय पदार्थ से तात्पर्य है – मूल प्रकृति तथा पुरुष प्रभृति उन तत्त्वों से जिनका कभी भी इन्द्रियों से सन्निकर्ष हो ही नहीं सकता है। परन्तु ऐसे पदाथों की सत्ता अवश्य होती है, इनकी सत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। अर्थात् जो विद्यमान होते हुए भी इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं, उन्हें यहाँ अतीन्द्रिय कहा गया है। सांख्य सम्मत प्रकृति और पुरुष ऐसे ही अतीन्द्रिय तत्त्व हैं। ऐसे अतीन्द्रिय तत्त्वों का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता है, जिनको केवल आगम प्रमाण/आप्तवचन (वेद वाक्य) से ही जाना जा सकता है। इन्हें परोक्ष विषय कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वर्ग और मोक्ष है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से अधिकांश लौकिक व्यवहार का निष्पादन होता है। प्रत्यक्ष से बचे हुए व्यवहार का निष्पादन पूर्ववत् और शेषवत् अनुमान से हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियगोचर विषयों की प्रतीति इन प्रमाणों से हो जाती है। ऐसा हम अपने प्रतिदिन के जीवन में अनुभव भी करते हैं। इसीलिए सांख्यकारिकाकार यहाँ इन प्रमाणों के विषयों के संदर्भ में कुछ नहीं कहते हैं। सांख्य दर्शन के कुछ विद्वानों का मानना है कि **सामान्यतस्तु** दृष्टात् में प्रयुक्त **तु** से प्रत्यक्ष, पूर्ववत् और शेषवत् अनुमान का ग्रहण होता है। हमारे लौकिक व्यवहार के आधार ये तीन प्रमाण हैं। कुछ अन्य विद्वान इस कारिकांश का अर्थ भिन्न प्रकार से करते हैं–**सामान्यतः तु** दृष्टात् **प्रतीतिर्भवति** अर्थात् सामान्य

लौकिक व्यवहार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है। परन्तु ऐसा मानना समीचीन नहीं है। लौकिक व्यवहार में अनुमान प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्यक्ष, पूर्ववत् और शेषवत् अनुमान से प्रतीत न होने वाले विषयों की प्रतीति सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है। ऐसा विषय अतीन्द्रिय होता है। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को अतीन्द्रिय माना गया है। परन्तु इसके अन्तर्गत महत्, अहंकार और तन्मात्राएं भी आती हैं। इन तीनों का विवेचन अग्रिम कारिकाओं में किया गया है। इसीलिए कथन किया गया है–**सामान्यतस्तु** दृष्टादतीन्द्रियाणां **प्रतीतिरनुमानात्**।

प्रकृति और पुरुष से भी अतीन्द्रिय स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) है। इनकी प्रतीति सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी नहीं होता है। इसीलिए सांख्यकारिका में इन्हें परोक्ष कहा गया है। इनका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के किसी भेद से सम्भव नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इनकी सत्ता ही नहीं हैं। इनकी सत्ता है और इसकी सिद्धि आगम प्रमाण (आप्तवचन) से होता हैं। परोक्ष विषयों की सिद्धि केवल आगम प्रमाण से ही सम्भव है। यद्यपि सांख्य दर्शन का मूल प्रतिपाद्य प्रकृति, प्रकृति से उत्पन्न महदादि तत्त्व और पुरुष है और इन सब की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से हो जाता है। परन्तु सांख्य दर्शन स्वर्ग और अपवर्ग में भी विश्वास करता है और इनकी सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से असम्भव है। इसलिए सांख्य दर्शन में आगम को भी प्रमाण माना गया है। इसके साथ ही सांख्य दर्शन का वेदों के प्रति किसी प्रकार की अनास्था नहीं है। आद्य सांख्याचार्य कपिल मुनि के वचनों की स्वीकृति भी आगमाश्रित ही है। अतः सांख्य दर्शन में आप्तवचन या आगमोक्त वाक्य को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। आगम को प्रमाण माने बिना स्वर्ग तथा अपवर्ग की सिद्धि नहीं ही होगी, कपिल आदि सांख्याचार्यों के वचनों की प्रमाणिकता भी संदिग्ध हो जायेगी। इसीलिए सांख्य दर्शन में आगम प्रमाण की अनिवार्य माना गया है और इसी के आधार पर स्वर्ग और अपवर्ग की सिद्धि की गई है। इसीलिए यहाँ कहा गया है –**तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।**

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च।। 7।।

कारिकार्थ : अत्यन्त दूर या अत्यन्त समीप होन से, इन्द्रियों में विकार होने से, मन के अस्थिर होने से, अत्यन्त सूक्ष्म होने से, व्यवधान होने से, अभिभव से तथा समानाभिहार से विद्यमान वस्तु भी दृष्टिगत नहीं होती है।

व्याख्या : सांख्यदर्शन का मुख्य ध्येय प्रकृति और पुरुष की सत्ता को सिद्ध करना है। पूर्व कारिका में इन दोनों को अतीन्द्रिय कहा गया है। अतीन्द्रिय वस्तु की सत्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है। इस कारिका में किसी वस्तु के अतीन्द्रिय अर्थात् किसी वस्तु के उपलब्ध होने पर भी दृष्टिगत न होने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इससे प्रकृति और पुरुष की सत्ता की सिद्धि के साथ–साथ उनकी अनुपलब्धि के कारणों का भी ज्ञान हो जाता है।

इस कारिका में किसी विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि के आठ कारण बतलाये गये हैं। वे कारण हैं – 1. वस्तु का अत्यन्त दूर होना, 2. अत्यन्त समीप होना, 3. इन्द्रियों में विकार होने पर भी विद्यमान वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है, 4. मन के किसी अन्य विषय में प्रवृत्त होने पर भी दूसरी वस्तु दिखाई नहीं देती है, 5. वस्तु की अत्यन्त सूक्ष्मता भी उसकी उपलब्धि में कारण है, 6. इन्द्रिय और वस्तु के मध्य किसी व्यवधान के आ

जाने पर वस्तु की उपलब्धि बाधित हो जाती है, 7. अधिक भास्वर किसी अन्य वस्तु के सन्निधान से वस्तु का अभिभव तथा 8. समानाभिहार अर्थात् अपने मूल पदार्थ में समाहित रहने पर भी वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है।

इन कारणों को विस्तार से समझने का प्रयास करते हैं। पहला कारण है–**अतिदूरात् अर्थात् अतिदूरात् तदनुपलब्धिः**। यह सर्वसिद्ध तथ्य है कि बहुत दूर की वस्तु को हम देख नहीं पाते हैं। उदाहरणस्वरूप ब्रह्माण्ड में अनेक ग्रह–नक्षत्रादि दूर होने के कारण ही दृष्टिगत नहीं होते हैं। दूर देश में बैठे व्यक्ति को हम अपने नेत्रों से साक्षात् नहीं देख पाते हैं। यहाँ वस्तु की अनुपलब्धि सकारण है। कारण के निराकृत होते ही वस्तु दृष्टिगत हो जाती है। यदि हम दूरस्त व्यक्ति या वस्तु के समीप चले जाये और अन्य कोई व्यवधान न हो तो वह आसानी से दिखाई देगा। सपष्ट है कि उपलब्ध वस्तु की अनुपलब्धि में अत्यधिक दूरी भी एक प्रमुख कारण है।

दूसरा कारण–**अति सामीप्यात् अर्थात् अतिसामीप्यातपि तदनुपलब्धिः**। अत्यधिक दूरी के समान ही अत्यधिक समीपता भी विद्यमान वस्तु के दृष्टिगत न होने में एक प्रमुख कारण है। उदाहरणस्वरूप अपने आंखों में लगा अंजन स्वयं को दिखाई नहीं देता है। यह इसलिए होता है कि अंजन नेत्र के अत्यन्त समीप होता है और अत्यन्त समीपस्थ वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है। इस प्रकार अत्यन्त समीपता भी विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि का एक प्रमुख कारण है।

ये दोनों दोष देशकृत कहे जाते हैं। यहाँ देश अर्थात् स्थान (अत्यधिक दूरी या समीपता) के कारण वस्तु की अनुपलब्धि हो रही है। इस प्रकार देशकृत दोष के कारण भी विद्यमान वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है।

तीसरा कारण–**इन्द्रियघातात् अर्थात् इन्द्रियघातातपि तदनुपलब्धिः**। इसका तात्पर्य है कि नेत्रादि इन्द्रियों में विकार आ जाने पर भी सामने विद्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता है। इस तथ्य से हम सभी अवगत है कि नेत्रहीनता आदि नेत्रगत विकारों के आ जाने पर सामने विद्यमान वस्तु भी दिखाई नहीं देती है। इसी प्रकार कर्णगत विकार यथा– बहरापन आदि के कारण व्यक्ति समीप की आवाज को नहीं सुन पाता है। इस प्रकार इन्द्रियों में दोष के कारण भी विद्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता है।

चतुर्थ कारण–**मनोऽनवस्थानात् अर्थात् मनोऽनवस्थानादपि तदनुपलब्धिः**। मन की अनवस्था में भी सामने विद्यमान वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है। वस्तुतः किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि के कारण मानव का मन उसी वस्तु के प्रति चिन्तन–मनन में संलग्न रहता है और कभी–कभी वह उसमें इतना लीन हो जाता है कि उसकी नेत्रादि इन्द्रियॉ सामने उपस्थित विषयों से सन्निकर्ष नहीं कर पाती हैं, परिणामतः उन विषयों की उपलब्धि नहीं हो पाती है। मन की ऐसी अवस्था को ही यहाँ अनवस्था कहा गया है। इस प्रकार मन की अनवस्था भी विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में कारण होता है।

तृतीय और चतुर्थ कारण वस्तुतः इन्द्रियगत दोष है। इन दोनों कारणों में इन्द्रिय दोष के कारण विद्यमान वस्तु की प्रतीति नहीं होती है।

पंचम कारण–**सौक्ष्म्यात् अर्थात् सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः**। अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु की प्रतीति भी इन्द्रियों से नहीं होती है। यह सामान्य अनुभव का विषय है कि हवा में विद्यमान सूक्ष्म कण, परमाणु आदि अत्यन्त सूक्ष्म कण हमें दिखाई नहीं देते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक वस्तुऍ हैं जो अपनी सूक्ष्मता के कारण इन्द्रियों के विषय नहीं बन

पाते हैं। अतः वस्तु की सूक्ष्मता भी उसकी अनुपलब्धि में कारण होते हैं। ऐसे दोष को वस्तुगत दोष कहते हैं।

षष्टम कारण–**व्यवधानात् अर्थात् व्यवधानात् तदनुपलब्धिः**। इन्द्रिय और विषय के मध्य किसी वस्तु या व्यक्ति के आ जाने पर भी इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष नहीं हो पाता है और विद्यमान वस्तु इन्द्रियों का विषय नहीं बन पाती है। उदाहरणस्वरूप पर्दे या दीवार के पीछे रखी हुई वस्तु समीप में होने पर भी दृष्टिगत नहीं होती है। इस प्रकार इन्द्रिय और विषय के मध्य व्यवधान होने पर भी उपलब्ध वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है।

सप्तम कारण–**अभिभवात् अर्थात् अभिभवात् तदनुपलब्धिः**। अभिभव से तात्पर्य है– किसी में अन्य विषय में अभिभूत हो जाना। अत्यधिक प्रकाश या घने अन्धकार में वस्तु अभिभूत (तरोहित) होने के कारण दृष्टिगत नहीं होती है। रात में दिखाई देनेवाले तारे दिन में सूर्य के प्रकाश में अभिभूत होनेके कारण दिखाई नहीं देते हैं यद्यपि वे दिन में भी विद्यमान रहते हैं।। इसी प्रकार अधिकांश वस्तुएँ रात्रि के घने अन्धकार में अभिभूत होने के कारण दृष्टिगत नहीं होती है। स्पष्ट है कि अभिभव भी विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में एक प्रमुख कारण है।

अष्टम कारण–**समानाभिहारात् अर्थात् समानाभिहारात् तदनुपलब्धिः**। अपनी जाति की वस्तु में मिल जाना समानाभिहार कहलाता है। जैसे गिलास में रखा हुआ दूध और बाल्टीन में रखा हुआ दूध समान जाति का होने पर भी अलग–अलग पात्र में रखे जाने के कारण गिलास का दूध और बाल्टीन का दूध कहा जाता है। परन्तु बाल्टीन के दूध में गिलास के दूध को मिला देने पर गिलास का दूध अलग दिखाई नहीं देता है क्योंकि गिलास का दूध समान जाति में मिल गया।

कुछ टीकाकारों का मानना है कि समानाभिहाराच्च में प्रयुक्त '**च**' पद से वस्तु की अनुपलब्धि में एक अन्य कारण का उल्लेख किया गया है और वह कारण है–अनुद्भूत। अर्थात् अपने कारण से उद्भूत न होने पर भी वस्तु दृष्टिगत नहीं होती है। यथा– दूध में दही की सत्ता विद्यमान रहती है परन्तु जब तक वह दूध से उद्भूत न हो जाये तबतक उसकी सत्ता का भान नहीं होता है। इस प्रकार अनुद्भूतता भी उपलब्ध वस्तु की अनुपलब्धि में कारण होता है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन स्पष्ट करता है कि इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव मात्र से किसी वस्तु या व्यक्ति की अनुपलब्धि को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। किसी वस्तु या व्यक्ति की अनुपलब्धि के अनेक कारण हो सकते हैं। अनुपलब्धि के कारण वस्तु का अभाव नहीं माना जा सकता है। सांख्यकारिकाकार ने यहाँ अपने मूल प्रतिपाद्य प्रकृति और पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए पूर्वपीठिका के रूप में विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि के विविध कारणों का प्रतिपादन किया है।

इस विषय में सांख्यतत्त्वकौमुदी का मानना है कि किसी वस्तु की अनुपलब्धि पर विचार करने से पहले उसकी साक्षात्कार की योग्यता पर विचार करना चाहिए तथा उसकी अनुपलब्धि के कारणों पर दृष्टिपात करना चाहिए। साक्षात् के अयोग्य होने और अनुपलब्धि के कारणों का निराकरण होने पर ही वस्तु की अनुपलब्धि माननी चाहिए।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च।। 8।।

कारिकार्थ : सूक्ष्म होने के कारण (मूल प्रकृति की) उपलब्धि नहीं होती है, अभाव के कारण नहीं। कार्य से उसकी उपलब्धि है। महदादि उसके कार्य हैं और वे (महदादि) प्रकृति के अनुरूप और प्रतिरूप होते हैं।

व्याख्या : मूल प्रकृति प्रत्यक्ष का विषय नहीं है परन्तु अनुमान प्रमाण से इसकी उपलब्धि होती है। यहाँ उपलब्धि से तात्पर्य है– सत्ता की सिद्धि होना अर्थात् अनुमान प्रमाण से प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। प्रकृति का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता है परन्तु उसके कार्यों का इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है और उनसे उसका सहज अनुमान होता है।

प्रकृति की अनुपलब्धता का कारण उसकी अतिसूक्ष्मता है। यह लोक प्रमाण से सिद्ध है कि अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं होता है। जल में विद्यमान हाईड्रोजन और ऑक्सीजन के कण को हम नहीं देख पाते हैं। इसी प्रकार हम जिस हवा को सांस के रूप में लेते हैं उसमें अनेक प्रकार के तत्त्वों के सूक्ष्म कण विद्यमान होते हैं पर वे दृष्टिगत नहीं होते हैं। ठीक उसी प्रकार से प्रकृति भी अत्यन्त सूक्ष्म है और इसी कारण से वह दृष्टिगत नहीं होती है। प्रकृति की सूक्ष्मता वस्तुतः उसकी दुरूहता है– सांख्यसूत्र में कहा गया है–**दुरूहत्वंसौक्ष्म्यम्**। अर्थात् प्रकृति को समझना अत्यन्त कठिन है। वह सूक्ष्म रूप से जगत् के समस्त तत्त्वों में विद्यमान है परन्तु वह दृष्टिगत नहीं होती है। जगत् के समस्त पदार्थ उसी के विकार हैं। उसके महदादि विकारों से ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है। इसीलिए कारिका में कहा गया है– **सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः।** यहाँ **तत्** सर्वनाम का प्रयोग प्रकृति के लिए किया गया है।

प्रकृति का अभाव नहीं माना जा सकता है। अभाव चार प्रकार के होते हैं– प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव। प्रकृति के विषय में इनमें से किसी प्रकार के अभाव को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए कारिका में कहा गया है–**नाभावात्**।

प्रकृति का ज्ञान इन्द्रियों से असम्भव है। वस्तुतः प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म है। वह अपनी सूक्ष्मता के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष का विषय नहीं बन पाती है। अतः इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में प्रकृति की सत्ता के विषय में प्रश्न नहीं किया जा सकता है। सांख्यदर्शन का मानना है कि जगत् का मूल कारण प्रकृति है–**ब्रह्मकारणंजगदिति केचित्परमाणुकारणमित्यन्ये प्रधानकारणमिति वृद्धाः**। अर्थात् वेदान्ती ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं, नैयायिक परमाणु को जगत् का कारण मानते हैं परन्तु **वृद्धाः** अर्थात् सांख्याचार्य प्रधान को जगत् का कारण मानते हैं। यह प्रकृति इन्द्रियगम्य नहीं है। अतः उसकी सत्ता को सिद्ध करना सांख्याचार्यों के लिए आवश्यक हो जाता है। सांख्याचार्य इसके लिए महदादि को प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार महदादि प्रकृति का परिणाम अर्थात् कार्य है। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता है। कार्य को देखकर उसके कारण की जिज्ञासा अवश्य होती है। महदादि को देखकर भी उनके कारण की जिज्ञासा होती है। सांख्याचार्य उस कारण को ही प्रकृति कहते हैं। यहाँ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति के कार्य के आधार पर उसकी सत्ता की सिद्धि होती है। इसीलिए कारिका में कहा गया है–**कार्यतस्तदुपलब्धेः**। यहाँ **तत्** सर्वनाम प्रकृति का वाचक है।

प्रकृति की सत्ता में प्रमाण उसके कार्य हैं। महत् से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त प्रकृति के विकार या कार्य हैं। कार्य से कारण की सत्ता का अनुमान करने का अत्यन्त प्रबल सिद्धान्त शास्त्रों में प्रचलित है। यह अत्यन्त प्रचलित सिद्धान्त है कि कारण के बिना

कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। महदादि कार्य अवश्य ही किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं। सांख्यदर्शन महदादि का कारण प्रकृति को मानता है। अतः महदादि कार्य से उसके कारण प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। महदादि कार्य अपने कारण प्रकृति की सत्ता के अनुमापक हैं। इसीलिए सांख्यकारिकाकार कहते हैं–**महदादि तच्च कार्यम्**। यहाँ **तत्** शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है।

महदादि को प्रकृति का कारण क्यों माना जाए ? सांख्यदर्शन में प्रकृति को महदादि का कारण माना गया है। यहाँ इसकी सिद्धि के लिए दो कारण दिए गए हैं– महदादि की प्रकृति से सरूपता और विरूपता। कारण से उत्पन्न कार्य में दो प्रकार के विकार दृष्टिगत होते हैं–सरूप और विरूप। कार्य अपने कारण से सरूप और विरूप दोनों होता है। सरूप से तात्पर्य है– अपने कारण के कतिपय गुणों को धारण करना और विरूप का अभिप्राय है– अपने कारण से भिन्न दृष्टिगत होना। यदि कार्य अपने कारण के कतिपय गुणों को धारण नहीं करता तब उसके कारण को जान पाना असम्भव होगा। इसी प्रकार यदि कार्य में अपने कारण से विरूपता न हो वह कार्य नहीं कहला सकता है। ऐसे में वह कार्य न होकर कारण ही कहलायेगा। सरूपता और विरूपता के विषय में कहा गया है–**समानं रूपं यस्य तत्सरूपं, विसदृशं रूपं विरूपम्**। इस प्रकार अपने कारण से सरूपता और विरूपता कार्य की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

सांख्यदर्शन महदादि की प्रकृति से सरूपता और विरूपता के आधार पर महदादि को प्रकृति का कार्य और प्रकृति को उसका कारण मानता है। **महदादि कीप्रकृति से सरूपता**–सांख्यदर्शन प्रकृति को त्रिगुणात्मक मानता है। उसके अनुसार प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण सदा विद्यमान रहते हैं और उन तीन गुणों का स्वभाव है– सुख, दुःख और मोह। महदादि में भी ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। यही महदादि की प्रकृति से सरूपता है। **महादादि की प्रकृतिसे विरूपता**– महदादि में प्रकृति के विपरीत भी अनेक गुण पाये जाते हैं। अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्पादि महदादि के वे गुण हैं जो प्रकृति में नहीं पाये जाते हैं। फलतः महदादि प्रकृति के विरूप भी हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया है–**प्रकृतिसरूपं विरूपं च।**

यहाँ प्रश्न उठता है कि महदादि में त्रिगुणात्मकता उनके कारण प्रकृति से आती है परन्तु विरूपता कहाँ से आती है ? इस शंका का समाधान कारिका 10 एवं 11 में किया गया है। इस प्रकार महदादि कार्य से उनके अतीन्द्रिय कारण प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। प्रकृति की सत्ता की सिद्धि में महदादि ही प्रमाण हैं।

18.3 सारांश

सांख्य दर्शन में 25 तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। इनमें प्रकृति और पुरुष मूल तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष अतीन्द्रिय हैं। इनको इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। इसी कारण से इनकी उपलब्धि नहीं हीती है। इनकी सूक्ष्मता ही इनकी अनुपलब्धि का कारण है। संख्य दर्शन अपने स्वीकृत तत्त्वों की सिद्धि के लिए तीन प्रकार के प्रमाणों का प्रतिपादन करता है–प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन। प्रत्यक्ष प्रमाण से अधिकांश लौकिक व्यवहार का सम्पादन होता है। सांख्य स्वीकृत प्रकृति और पुरुष की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है। सांख्य दर्शन स्वर्ग और मोक्ष को भी मानता है और उसकी सिद्धि के लिए वह शब्द प्रमाण को मान्यता देता है।

18.4 शब्दावली

प्रमाण : किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने वाले साधन को प्रमाण कहते हैं। सांख्यदश्नन में तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आप्तवचन। परन्तु अन्य दर्शनों में इनके अतिरिक्त भी प्रमाण स्वीकार किये गये हैं।

प्रमेय : प्रमाणों के द्वारा जिन वस्तुओं को प्रमाणित किया जाता है उनको प्रमेय कहते हैं। यथा– नेत्र से आम्र वृक्ष पर फल को देखकर यह कहना– आम्र वृक्ष फलवान है। यहाँ फल की सत्ता नेत्र से सिद्ध होती है। अतः यहाँ फल प्रमेय है। इसी प्रकार विविध प्रमाणों से सिद्ध होने वाली वस्तु को प्रमेय कहा जाता है। सांख्यदर्शन के 25 तत्त्व प्रमेय हैं क्योंकि उनकी सत्ता विविध प्रमाणों सिद्ध होती है।

प्रत्यक्ष/दृष्ट : आँख, कान, नाक, जिह्वा तथा त्वचा के सम्पर्क से होने वाले साक्षात् ज्ञान को प्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इसीको इन्द्रिय सन्निकर्ष कहते हैं।

इन्द्रियसन्निकर्ष : नेत्रादि इन्द्रियों का रूपादि वस्तु के साथ साक्षात् होना ही इन्द्रिय सन्निकर्ष है। प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष आवश्यक है।

अनुमान : किसी एक वस्तु के ज्ञान से दूसरी वस्तु के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यथा– धुआँ को देखकर अग्नि का ज्ञान होना।

आप्तवचन : आप्त वाक्य से तात्पर्य है– प्रमाणिक कथन। ऐसे कथन या वाक्य जिसकी प्रमाणिकता स्वयंसिद्ध है या किसी प्रमाण से प्रमाणित है। ऐसे कथन की प्रमाणिकता सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती है। भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में मुख्य रूप से वैदिक वाक्यों एवं सिद्ध पुरुष के कथन को आप्तवचन कहा गया है।

प्रतिविषय : दार्शनिक सम्प्रदाय में सांसारिक वस्तुओं को विषय कहा जाता है। सांख्यदर्शन में संसार की समस्त वस्तुओं को पांच श्रेणी में बांटा गया है– दिखाई देने वाली वस्तु **रूप** है। सुनाई देने वाली वस्तु को **षब्द** कहते हैं। स्वाद को **रस** कहा गया है। सुगन्ध या दुर्गन्ध को **गन्ध** कहते हैं। त्वचा से स्पर्शयोग्य पदार्थ स्पर्श है। सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ रूप, शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श इन्हीं पॉच के अन्तर्गत आते हैं। सांख्य दर्शन में इनको ही प्रतिविषय कहा गया है।

अध्यवसाय : रूप, शब्द, रस आदि विषयों के निश्चयात्मक ज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं।

पूर्ववत् : जिस अनुमान में हेतु और साध्य के साहचर्य नियम (व्याप्ति) का दृष्टान्त प्रत्यक्ष रूप में देखा जाता है उसको पूर्ववत् अनुमान कहते हैं या विशेष का साक्षात् से सामान्य का अनुमान पूर्ववत् अनुमान होता है। यथा–धुएँ से अग्नि का अनुमान।

शेषवत् : व्यतिरेक व्याप्ति से संपन्न होने वाला निषेधक अनुमान शेषवत् कहलाता है।

सामान्यतोदृष्ट – विशेष के साक्षात् के बिना सामान्य नियम से अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। यथा प्रकृति के कार्यों को देखकर प्रकृति का अनुमान करना।

लिङ्ग : अनुमान प्रमाण में जिस हेतु से साध्य की सिद्धि होती है उसको लिङ्ग कहते हैं। यथा– धुआँ से अग्नि के ज्ञान में धुआँ लिङ्ग है।

लिङ्गी : अनुमान प्रमाण से हेतु या लिङ्ग से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उसको लिङ्गी कहते हैं। यथा– धुआँ से अग्नि के ज्ञान में अग्नि लिङ्गी है।

अतीन्द्रिय : जो विषय आंख, कान आदि इन्द्रियों से अगम्य होते हैं, उनको अतीन्द्रिय कहा जाता है। सांख्य दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष को अतीन्द्रिय कहा गया है।

परोक्ष : सांख्यदर्शन के अनुसार इन्द्रियों से अगम्य तथा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध न होने वाला परोक्ष होता है। मुख्य रूप से स्वर्ग, नरक और मोक्ष को परोक्ष माना गया है। इनके विषय में आगम प्रमाण से जाना जाता है।

आगम : वेदादि शास्त्रसम्मत वाक्य या कथन को आगम कहा जाता है। सांख्यदर्शन वेदवाक्य को प्रमाण मानता है और इन्हें आप्त प्रमाण कहता है।

मूल प्रकृति/प्रकृति : सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति से ही सम्पूर्ण जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है। यही जगत् का मूल कारण है। इसमें ही निखिल ब्रह्माण्ड सूक्ष्म रूप में समाहित है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। सत्त्व, रजो और तमो गुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है।

पुरुष : सांख्य शास्त्र में पुरुष को जड़ प्रकृति का उपभोक्ता कहा गया है। प्रकृति समस्त उपभोग्य पदार्थों का संघात है । ऐसे में उसका उपभोक्ता भी होना चाहिए। वह स्वयं ही स्वयं का उपभोग नहीं कर सकती है। पुरुष की उसका उपभोक्ता है। पुरुष चेतन और परम तत्त्व है। पुरुष को अन्य दर्शनों में स्वीकृत आत्मा के समतुल्य माना जा सकता है।

महत्/महत् तत्त्व : सृष्टि–क्रम में प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व है। इसी को बुद्धि कहते हैं। अचेतन प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण यह भी अचेतन है। चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण यह चेतनवत् प्रतीत है।

18.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सांख्यकारिका– व्रजमोहन चतुर्वेदी
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी– हरदत्त शर्मा
3. सांख्यसंग्रह– विन्ध्येश्वरी प्रसाद
4. सांख्य दर्शन का इतिहास– उदयवीर शास्त्री
5. भारतीय दर्शन– चन्द्रधर शर्मा

18.6 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के अनुसार प्रमाण का विवेचन कीजिए।
2. विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि के कारणों को सविस्तार लिखिए।
3. संख्य दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन कीजिए?
4. अनुमान प्रमाण क्या है? इसके भेदों का विवेचन कीजिए।
5. उपलब्ध वस्तु की अनुपलब्धि के क्या–क्या कारण होते हैं? बताइए।
6. प्रकृति की उपलब्धि और सत्ता में क्या प्रमाण है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 19 सत्कार्यवाद

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी :

- सत्कार्यवाद की अवधारणा का परिचय प्राप्त करेंगे।
- सत्कार्यवाद संबंधी विभिन्न वादों–प्रतिवादों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- सत्कार्यवाद की पाँच युक्तियों पर चर्चा करेंगे; तथा
- मूल प्रकृति के रूप में त्रिगुण साम्यावस्था को समझ सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

प्रधान की सिद्धि बन पाती है, क्योंकि सांख्य का सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। अतः सत्कार्यवाद के साधनार्थ कारिका का अवतरण दे रहे है – "अतः प्रधानसिध्यर्थं प्रथमं तावत्सत्कार्यं प्रति जानीते" सत्कार्यवाद के अतिरिक्त अन्यान्यवादों में प्रधान की सिद्धि नहीं हो पाती, इसलिए प्रधान – मूलप्रकृति के साधनार्थ प्रथमतः सत्कार्यम् अर्थात् कार्य सत् है, ऐसी प्रतिज्ञा कारिकाकार ने की है।

पूर्व कारिका में महदादिकार्य से उनके अतीन्द्रिय कारण मूलप्रकृति की सिद्धि की गई है। अर्थात् मूल प्रकृति की सत्ता में प्रमाण उस्के कार्य महत् आदि तत्त्व ही हैं। किन्तु कार्य की उपलब्धि से केवल इतना ही जाना जा सकता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है कि महदादि कार्य–कलाप का कारण मूल प्रकृति के रूप में कोई ऐसा पदार्थ हो जिसकी सत्ता भी हो, क्योंकि दर्शन की विविध विधाएं अन्तिम कारण के विषय में अनेक विसंवाद उपस्थित करती हैं। उदाहरणतः बौद्ध प्रभृति कुछ विचारक असत् अर्थात् अभाव से ही सत् अर्थात् भावात्मक तत्त्वों की उत्पत्ति मानतें हैं, तो दूसरे वेदान्ती इस जगत् को एकमात्र सत् तत्त्व ब्रह्म का विवर्त मानते हुए सदसद्विलक्षण कहते हैं। न्याय–वैशेषिक जगत् के मूल उपादान परमाणु को तो सत् मानते है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले अणु –समुदाय रुप घटादि कार्य को असत् अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में विद्यमान न मानते हुए इसे सर्वथा नूतन कृति कहते हैं। सांख्याचार्य कपिल ने यह माना है कि प्रत्येक कार्य सत् है जो उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है। न तो वह उत्पन्न होता है और न विनाश को ही

प्राप्त होता है, अपितु उसका आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है यह चक्र सदैव जारी रहता है। उक्त चारों विसंवादो; बौद्ध, वेदान्त, न्याय वैशेषिक, सांख्य आदि में से प्रथम तीन के अनुसार प्रकृति की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतः चतुर्थ पक्ष सत्कार्यवाद की सिद्धि 9वीं कारिका में करते हैं।

19.2 सत्कार्यवाद

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। (कारिका 9)

व्याख्या : कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है क्योंकि इस लोक में जो वस्तु सर्वथा सिद्ध नहीं है,उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए उसके उपादान कारण को ही खोजा जाता है। क्योंकि एक ही वस्तु से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति संभव नहीं। बल्कि इसके विपरीत जो वस्तु जिस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है। इसीलिए पदार्थों में परस्पर कार्यकारणभाव होता है। अथवा कारण का जो स्वभाव होता है वह कार्य में भी देखा जाता है। प्रकृत कारिका में कार्य सत् की प्रतिज्ञा की गई है जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के पहले अपने कारण में अवश्य विद्यमान रहता है। यही पक्ष हमें मान्य है जिसकी सिद्धि करना है। यहां कार्य को सत् कहकर ही बौद्ध एवं वेदान्तियों के पक्षों का निराकरण दिया गया है क्योंकि दोनों में से कोई भी पक्ष कार्य को उत्पाति के पूर्व या पश्चात् सत् अर्थात् नित्य नहीं मानता तथा उनका मत एक दूसरे से ही खण्डित हो जाता है। असत् अर्थात् अभाव से सत् रुप जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त बौद्धों का है। किन्तु ऐसा मानने पर असत् कारण से सुखदुःख मोहात्मक तथा नामरुपात्मक कार्यभूत इस जगत् के उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? क्योंकि ऐसा मानने से सत् और असत् में अभेद की सिद्धि नहीं होती। तथा अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वदा सभी कार्यों की उत्पत्ति स्वतः होनी चाहिए। इसी प्रकार इस जगत् को एकमात्र सत् ब्रह्म का विवर्त कहना उसे मिथ्या कहना है जो इसलिए ठीक नहीं है कि जगत् विषयक प्रत्यक्ष अनुभूति का कोई बाधक तत्त्व नहीं है। अर्थात् जो जगत् साक्षात् अनुभूत हो रहा है, किसी बाधक तत्त्व के अभाव में उसे मिथ्या कहना कहाँ तक न्याय है? इस प्रकार वेदन्तियों एवं बौद्धों के मतों को निस्सार समझते हुए उनका खण्डन न कर कारिकाकार ने वैशेषिक एवं नैयायिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन करने के लिए ही उक्त कारिका की रचना की है जिसमें पूर्वपक्ष यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले कहीं भी किसी भी रुप में विद्यमान नहीं रहता अपितु उसकी नई सृष्टि होती है। यहां इसके खण्डन तथा अपने सत्कार्यवाद के मण्डन में पांच युक्तियाँ दी गई हैं जो निम्नलिखित हैं –

असदकरणात् पहली युक्ति है। जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कार्य कारण व्यापार के पहले किसी भी रुप में कहीं भी विद्यमान नहीं होता तो उसकी उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं की जा सकती जिस प्रकार सहस्त्रों शिल्पी मिलकर आकाशपुष्प एवं खरहे का सींग नहीं बना सकते। यदि यह कहें कि सत् और असत् होना वस्तु के दो धर्म हैं, अतः असत् अवस्था में उसका अभाव नहीं माना जा सकता, तो धर्मी के बिना धर्म का होना सिद्ध हो जाएगा। अथवा धर्म के रुप में ही धर्मी का होना सिद्ध हो जाता है। इसलिए वह असत् नहीं है। अर्थात् कारणव्यापार से पूर्व भी कार्य की सत्ता है। कारण

व्यापार से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है जो देखी भी जाती है। जैसे पेरने से तिल में से तेल, कूटने से धान से चावल और दूहने से गाय में से दूध निकलता है।

उपादानग्रहणात् दूसरी युक्ति है। उपादान समवायिकारण को कहते हैं। उसका ग्रहण कार्य से संबन्धित होना है। चूंकि प्रत्येक कार्य अपने उपादान अर्थात् समवायिकारण से सम्बद्ध होता है, इसीलिए उससे उसकी उत्पत्ति होती है। यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न रहे तो अविद्यमान के साथ कारण का सम्बन्ध कैसे बनेगा? क्योंकि सम्बन्ध तो सत्पदार्थों में ही संभव है। इस पर यदि यह तर्क किया जाए कि कारण से सम्बन्ध के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानने में क्या दोष है? तो उसी के उत्तर में अगली युक्ति सर्वसंभवस्वाभावत् दी गयी है। बिना सम्बन्ध के ही कार्य की उत्पत्ति मानने पर किसी भी कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, किन्तु ऐसा होता नहीं है।

यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि कारण से असम्बद्ध भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है तो भी उसमें एक व्यवस्था है कि जिस कारण में उस कार्य विशेष को उत्पन्न करने की शक्ति होती है ,उसी से उसकी उत्पत्ति संभव है जिस किसी से नहीं। इसी अभिप्राय से कहा है – शक्तस्य शक्यकरणात्। यहां प्रश्न यह उठता है कि कारण में विद्यमान कार्य के उत्पादन की शक्ति क्या सर्वत्र एवं सर्व कार्य विषयक है? अथवा उस शक्य में ही जिसको उत्पन्न करने में वह समर्थ है? वह शक्ति यदि सर्वत्र होती तो किसी भी वस्तु से दूसरी किसी भी वस्तु की उत्पत्ति होती पायी जाती। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः यही मानना चाहिए कि वह शक्ति शक्य अर्थात् कार्य में ही है और चूंकि शक्ति भी एक प्रकार का सम्बन्ध है जो संयोगादि के समान ही शक्त एवं शक्य उभयाश्रित होता है, अतः शक्य अर्थात् कार्य के अविद्यमान रहने पर शक्त का होना भी संभव नहीं है। इसलिए ठीक ही कहा है – शक्तस्य शक्यकरणात्।

कारणभावात् कार्य इसलिए भी सत् अर्थात् अपनी उत्पत्ति के पहले विद्यमान माना जाना चाहिए कि वह कारणात्मक ही होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। अतः यदि कारण सत् है तो कार्य भी उससे अभिन्न अर्थात् सत् ही होना चाहिए। अथवा कारण का जो स्वभाव होता है, वहीं कार्य का भी स्वभाव होता है। जैसे तिल में जो चिकनापन है वही तेल में भी पाया जाता है। इस प्रकार कार्य कारण से भिन्न नहीं है। जो वस्तुएं एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं उनमें संयोग और अप्राप्ति दो गुण पाए जाते हैं, जैसे कुण्ड बदरीफल से भिन्न होता है अतएव उनका संयोग संभव है। इसी प्रकार हिमालय विन्ध्य से मिलता नहीं है, यह उनके परस्पर भिन्न होने का प्रमाण है। तन्तु और पट में न तो संयोग संभव है और उक्त वर्णित प्रकार से अप्राप्ति। अतः ये एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकते। यही पट का कारणभाव अर्थात् तन्तु होना है।

'कारणभावात' पद की व्याख्या टीकाकारों ने अनेक प्रकार से की है। जयमंगलाकार ने इसका अर्थ वस्तुओं में कार्यकारणभाव का विद्यमान होना भी किया है। क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान नहीं रहता तो 'कारण' से कार्य उत्पन्न होता है, इस मान्यता का अर्थ है। इसका दूसरा अर्थ भी वही "कारण का" स्वभाव किया है। क्योंकि जो स्वभाव कारण का होता है वही कार्य में भी पाया जाता है। मिट्टी से उत्पन्न घड़े का स्वभाव मिट्टी का ही होता है। इसी अर्थ का समर्थन गौड़पाद और माठर की टीकाओं से भी होता है। किन्तु वाचस्पतिमिश्र ने इसका अर्थ कार्य और कारण का अभिन्न होना किया है – कार्यस्य कारणात्मकत्त्वात्। उनका कहना है कि कार्य भी कारण का एक धर्म होता है। धर्म और धर्मी में कोई वास्तविक भेद नहीं होता। जो

वस्तुतः भिन्न है वह उसका धर्म कदापि नहीं हो सकता। जैसे गाय और घोडे में से कोई किसी का धर्म नहीं है अतः ये परस्पर भिन्न होते है। उपादान और उपादेयभाव भी कारण और कार्य की अभिन्नता के ही साधक है। इसलिए और तन्तु और पट यथार्थतः भिन्न नहीं है। घट और पट एक दूसरे से वस्तुतः भिन्न होते हैं इसलिए इनमें उपादानोपादेयभाव भी नहीं होता।

इस प्रकार **व्यतिरेकानुमान** से यह सिद्ध हो गया कि तन्तु ही परस्पर संलग्न होकर पट के रुप में परिणत हो जाते है। फलतः पट तन्तुओं से कोई भिन्न वस्तु नहीं है एक ही वस्तु में किसी व्यापार रुप क्रिया, उसके अभाव रुप निरोध, ज्ञान, संज्ञा, अर्थक्रिया एवं व्यवस्था के भिन्न भिन्न होने से उसे वास्तविक रुप से भिन्न नहीं सिद्ध कर सकती। एक ही वस्तु की भिन्न रुपों में प्रतीतियाँ उसे वास्तविक रुप में भिन्न नहीं बता सकती। क्योंकि एक ही वस्तु में अनेक विशेषों का आविर्भाव और तिरोभाव होने से उसकी एकता का व्याघात् नहीं होता। कछुए के हाथ, पैर एवं सिर आदि अंगों का आवश्यकतानुसार संकोच–विकोच हुआ करता है। इसे उनकी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं कहा जाता है। इसी प्रकार मिट्टी से घट एवं सुवर्ण से मुकुट आदि बनते बिगड़ते रहते हैं। उससे उनके भिन्न भिन्न होने की बात नहीं बनती ।

अर्थक्रिया भेद से भी कोई वस्तु भिन्न नहीं सिद्ध हो जाती। एक ही वह्नि अर्थक्रिया भेद से कहीं, दाहक, कहीं पाचक तो कहीं प्रकाशक कहा जाता है। जलाने, पकाने एवं प्रकाश की भिन्न भिन्न क्रियाओं को संपादित करने से वह अनेक नहीं हो जाता। अतः विशेष प्रयोजन से भिन्न भिन्न क्रियाओं के सम्पादन की व्यवस्था से किसी वस्तु का भिन्न भिन्न होना सिद्ध नहीं होता। इतने पर भी यदि कार्य के उत्पत्ति को असत् कहेंगे तो उससे भिन्न उसके कारण एवं उससे भी भिन्न उसके कारण की कल्पना करने से अनवस्थादोष आने लगता है जिसका कोई परिहार नहीं। अतः कार्य सत् ही है।

विशेष :

1. गीता में भगवान वेदव्यास ने स्पष्ट लिखा है। "नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः" अर्थात् न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट होता है।
2. तार्किको का आक्षेप है कि यदि कारण व्यापार से पूर्व कार्य विद्यमान रहता है तो कारण का कोई अस्तित्त्व नहीं रहता है। किन्तु इसका परिहार किरणावलीकार ने करते हुए लिखा है – सभी पदार्थों में अविरुद्ध सत् सूक्ष्म एवं स्थूल रुप में रहता है

ध्यातव्य : कोई भी कार्य बिना किसी कारण के सम्पन्न नहीं होता। इस कथन में किसी को कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है। पर कारण और कार्य का स्वरुप क्या है? तथा कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है या उसी का परिवर्तितरुप? इत्यादि प्रश्न अत्यन्त विचारणीय हैं। कार्यकारणभाव सम्बन्ध के अनुसार यदि इस ब्रह्माण्ड के मूलकारण का अनुसंधान करते हैं तो अनवस्थादोष आता है। क्योंकि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है जो अपने कारण का कार्य भी है। इसलिए काअर्यकारणभाव की स्पष्ट व्याख्या अपेक्षित है जिसे दार्शनिकों ने किया भी हैं। उपनिषदों में भी इस प्रकार की जिज्ञासा का विवेचन प्राप्त होता है कि सृष्टि के पूर्व कोई सत्ता थी या नहीं।

यह कार्यकारणभाव दो प्रकार से व्यवस्थित किया जाता है कारणवाद और कार्यवाद। कारणवाद भी दो प्रकार का होता है – सत्कारणवाद और असत्कारणवाद। इसी प्रकार कार्यवाद भी दो प्रकार का है – सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद।

असत्कारणवाद का अभिप्राय यह है कि किसी वास्तविक कारण की सत्ता के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यह सिद्धांन्त शून्यवादी बौद्धों का है। उनका मत है कि कोई भी कारण स्वयं विनष्ट हुए बिना किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरणतः बीज के विनाश से ही अंकुर उत्पन्न होता है, जो उस बीज का कार्य है। इसका अर्थ यह है इस सृष्टि की उत्पत्ति किसी वस्तु के विनाश अर्थात् अभाव से हुई है और उत्पन्न होकर यह सत् अर्थात् वास्तविक है। यह प्रक्रिया जगत् की प्रत्येक वस्तु में जो पायी जाती है उसका यही रहस्य है इसके ठीक विपरीत मत अद्वैतवादी वेदान्तियों का है जो यह मानते हैं कि वस्तुतः सत् अर्थात् तीनों कालों में निरन्तर एक सा बना रहने वाला तत्त्व तो एक ही है और एक से दो या अधिक हो भी नहीं सकता। निखिल सृष्टि प्रपंच जो कार्य के रुप में हमारे समक्ष उपस्थित है वह नामरुपात्मक है। नाम और रुप कोई ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो परमार्थतः सत् हों। इनकी परीक्षा करने पर जो तत्त्व परमार्थतः सत् मिलता है वह आत्मा अर्थात् चैतन्य है जो केवल एक ही है। आकाशादि स्थूलभूत ही नहीं मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म तत्त्व भी स्वतः कोई ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो परमार्थ रुप से सत् हों। अपितु यह निखिल ब्रह्माण्ड कारण–भूत उसी आत्म–तत्त्व का विवर्त है। जिसका अभिप्राय यह है कि आत्म–तत्त्व इन रुपों में परिणीत नहीं हो जाता अपितु मात्र प्रतीत होता है। कहा भी है –

अतात्त्विकोयोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः

नैयायिकों का सिद्धान्त कारण की अपेक्षा कार्य को दृष्टि में रखकर विचार करता है। उनका कहना है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कहीं भी किसी भी रुप मे विद्यमान नहीं रहता है, बल्कि सर्वथा एक नवीन वस्तु के रुप में उतपन्न होता है। यहां यह अभिप्रेत नहीं है कि अभाव या कारण के विनाश से कार्य पैदा होता है अपितु कारण व्यापार से। कारण को लेकर कर्ता कुछ विशेष प्रकार का कार्य–व्यापार करता है जिसके फलस्वरुप एक नवीन वस्तु कार्य के रुप में उतपन्न हो जाती है जो अपने कारण से तत्त्वतः भी भिन्न होती है। इस प्रकार कार्य एवं कारण दोनों ही परमार्थतः तो सत् हैं पर एकरुप या अभिन्न नहीं। जिन परमाणुओं से यह सृष्टि बनी है वे तो सत् हैं ही उनसे निर्मित यह सृष्टि असत् है ऐसा इसे इस रुप में कहा जा सकता है कि वह अपनी उत्पत्ति के पूर्व अथवा कारण व्यापार के पूर्व किसी भी रुप में विद्यमान नहीं थी। इस प्रकार कार्य का कारण व्यापार अथवा अपनी उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान न रहना ही असत्कर्यवाद है। कार्य यदि अपनी उत्पत्ति के पूर्व से ही विद्यमान रहे तो किसी के कर्तृत्त्व का क्या अर्थ है। बिना किसी सचेतन कर्ता के किसी भी कार्य का उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है।

सांख्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य को कार्यकारण भाव के उक्त तीनों में से कोई भी वाद स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि इनको स्वीकार करने पर सांख्यसिद्धान्त के मूलतत्त्व प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति की सिद्धि नहीं हो पाती, जो अव्यक्त है। सांख्य को एक ऐसे वाद की आवश्यकता थी जिसके अनुसार वह निखिल विश्वप्रपंच को एक रुप में समेट कर उसे स्बका मूलकारण सिद्ध कर दे, वह एक तत्त्व चाहे सर्वथा अव्यक्त ही क्यों न हो। इसीलिए उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि कार्यों में परस्पर की अनुरुपता इस बात को बताती है कि उन सबके मूल में कोई एक तत्त्व है जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु वह कारण ही कार्य के रुप में परिणत होकर प्रतिभासित हो रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान रहता है, और कारण व्यापार होने पर प्रगट हो जाता है। इस प्रकार कार्य का आविर्भाव एवं तिरोभाव हुआ करता है, नयी

उत्पत्ति और विनाश नहीं। सूक्ष्मरुप से अपने कारण में वर्तमान कार्य का आविर्भाव ही उसकी उत्पत्ति तथा कारण में पुनः तिरोभाव ही उसका विनाश है जो कछुए के हाथ पैर के समान आवश्यकतानुसार आविर्भूत और तिरोभूत हुआ करता है। इसी को सत्कार्यवाद कहते हैं।

इस सिद्धान्त से एक ओर जहाँ प्रत्येक तत्त्व की उत्पत्ति का स्रोत मिल जाता है वहाँ सभी कार्यों का अपनी कारण परम्परा में अन्तर्भाव होते हुए सबके मूलकारण प्रकृति की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है, जो कथमपि इन्द्रियगोचर नहीं। ब्रह्माण्ड के निखिल तत्त्वों का एकमात्र त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति में समावेश कर तथा उसे जड एवं चेतन दोनों ही तत्त्वों को परमार्थ रुप में सत् बताकर द्वैतवाद की प्रतिष्ठा करना ही सांख्य का लक्ष्य है जिसकी सिद्धि का सोपान उसका सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त है।

पूर्व वादों में विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करते हुए सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि बौद्धों के असत्कारणवाद के अनुसार यदि असत् से सत् की उत्पत्ति के वाद को स्वीकार कर लिया जाए तो सत् और असत् में भेद संभव न होने से अनिर्वचनीय एवं अभावरुप कारण से शब्द एवं रुपात्मक सुखादि रुप यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि सुखदुःखादि रुप का जो कारण है उसका भी सुखदुःखादि रुप होना ही उचित है। कार्य एवं कारण को एक रुप अर्थात् अभिन्न न मानें तो भी किसी न किसी अंश में अनुरुप तो मानना ही होगा। अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं बनेगी। कार्य के रुप एवं गुण को समझकर तदनुरुप रुपगुण से संवलित वस्तु को ही उसकी उत्पत्ति के लिए ग्रहण किया जाता है। जहाँ तक एकमात्र सत् आत्मा से असत् रुप निखिल प्रपञ्च की भ्रान्त प्रतीति के वेदान्तियों के सिद्धान्त का सम्बन्ध है वह इसलिए उपयुक्त नहीं है कि उससे कार्य एवं कारण का तादात्म्य नहीं बनता। क्योंकि जब कार्य वस्तुतः कुछ है ही नहीं तो उससे कारण की एकरुपता कैसी? इसके अतिरिक्त निरन्तर प्रत्यक्षतः अनुभूयमान जगत् का असत् कहकर निरुपण करना वदतोव्याघात ही होगा। इसलिए असत् से सत् एवं सत् से असत् की उत्पत्ति या प्रतीति के विधायक दोनों ही वाद विचारणीय नहीं है। विचारणीय पक्ष केवल नैयायिकों का ही है जो यह मानते हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता है। इस कथन के विरोध में पांच युक्तियों का उपन्यास सांख्यकारिका में हुआ है जो एक ही कारिका में अनुस्यूत हैं –

> असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।

इसका अर्थ है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व या कारण के कार्योत्पत्ति के अनुकूल व्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है। पाँच युक्तियों में असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसंभवभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् तथा कारणभावात् सम्मिलित किया गया है, जिनका विस्तृत विवरण पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है तथापि नए संदर्भ के साथ यह पुनः आगे प्रस्तुत है।

1. **असदकरणात्** : जो सत् अर्थात् किसी न किसी रुप में भी विद्यमान नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जगत् में कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि अभाव का भाव कथमपि नहीं हो सकता। कहा भी गया है नासतो विद्यते भावः। यदि अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होने लगे तो अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सर्वत्र स्वतः होनी चाहिए जो कदापि नहीं होती। अथवा जो वस्तु जिसमें विद्यमान नहीं है उससे उसकी उत्पत्ति मानने पर

किसी भी वस्तु से किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है पर होती है नहीं। यदि यह कहें कि सत् एवं असत् दोनों ही वस्तु के धर्म हैं जो बारी बारी से उसमें रहते हैं तो यह बात इसलिए सही नहीं हो सकती कि असत् अवस्था में जब वस्तु ही नहीं रहती तो उसमें उसके धर्म के विद्यमान होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। पेरने से तिल से तेल, कूटने से धान से चावल तथा दूहने से गाय से दूध निकलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि तेल, चावल और दूध निकलने के पहले से ही तिल, गाय एवं धान में विद्यमान थे। इससे यहीं सिद्ध होता है कि कार्य वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण वस्तु में विद्यमान थी, कारण के कार्योत्पादक व्यापार के अनन्तर वह व्यक्त हो गई। सांख्यसूत्र में इसका दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य के सींग नहीं है अतएव वह निकलते भी नहीं हैं। गाय, बैल आदि जिसमें वह पूर्वतः विद्यमान होती है उन्हीं को निकलते हैं।

2. **उपादानग्रहणात्** : कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है, इसकी सिद्धि में दूसरी युक्ति उपस्थापित करते हैं जब भी किसी कार्य को हम करना चाहते हैं तो उसके उपादान कारण का ग्रहण करते हैं। उपादान वही वस्तु है जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। अर्थात् कार्य जिसमें पूर्वतः विद्यमान होता है उसी को उस कार्य का उपादान कारण कहते हैं। कहने का आशय यह है कि समवाय सम्बन्ध से कार्य अपने उपादान से सम्बन्धित रहता है। कार्य की असद् अवस्था में उपादान के साथ उसका सम्बन्ध कैसे बन सकता है। क्योंकि सम्बन्ध सदा उभयाश्रित होता है। जब तक कारण के साथ कार्य की समकालीन सत्ता नहीं मानेंगे तब तक उनमें संबंध बन नहीं सकता। घड़ा का उपादान मिट्टी है। उसमें घड़ा पहिले ही सूक्ष्मरुप में विद्यमान है तभी घड़ा बनाने के लिए कुम्हार मिट्टी ही ले आता है। यदि यह कहा जाय कि कारणों से बिना किसी सम्बन्ध के ही कार्य की उत्पत्ति व्यवस्थित हो सकती है तो उससे जो गड़बड़ी होगी, उसके निरुपणार्थ अगली युक्ति दी गई है।

3. **सर्वसंभवाभावात्** : बिना किसी सम्बन्ध के ही कारण से कार्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर सभी प्रकार के कार्य सभी कारणों से सम्पन्न होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। कोई वस्तु किसी निश्चित वस्तु से ही उत्पन्न होती है सबसे नहीं। अन्यथा लोगों की सारी परेशानी दूर हो जाती है। कोई वस्तु कहाँ होती है कहाँ नहीं, यह विवाद ही समाप्त हो जाता है। जिसके पास जो वस्तु है उसी से वह सभी वस्तुएं बना लेता है। पर किसी भी एक कारण में सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता कथमपि नहीं ।

4. **शक्तस्यशक्यकरणात्** : कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि बिना किसी सम्बन्ध के ही कारणों से कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। फिर वहाँ कैसे व्यवस्था बनती है ? इसका उत्तर दिया है शक्तस्य शक्यकरणात्। इसका अर्थ यही है जो कारण जिस कार्य को करने में समर्थ होता है वही उसे उत्पन्न कर सकता है, अन्य नहीं। यहां प्रश्न यह उठता है कि कारण में रहने वाली वह शक्ति सर्वत्र होती है या समर्थ मे ही केवल। यदि सर्वत्र होती है तो अव्यवस्था वैसी की वैसी बनी रहती है। और यदि कहें कि वह शक्ति शक्त अर्थात् समर्थ कारण में ही रहती है तो कार्य के विद्यमान रहने के बिना ही उसमें कार्योत्पादन का सामार्थ्य कैसे सिद्ध हो सकता है? इस पर यह कहा जा सकता है कि सभी कारणों में शक्ति समान नहीं होती। अतः यह शक्ति की सीमा ही है कि क्या वह शक्ति विशेष कार्य से

सम्बन्ध है या असम्बन्ध। यदि सम्बद्ध है तो वह असत् अर्थात् कुछ है ही नहीं। यह कैसे हो सकता है क्योंकि असत् के साथ संबद्ध होना संभव ही नहीं। असम्बद्ध होने पर वही अव्यवस्था। अतः यह ठीक ही कहा कि – शक्तस्य शक्यकरणात्।

5. **कारणभावात्** : कार्य कारण से इसलिए भी भिन्न नहीं है कि कार्य सदा कारणात्मक ही होता है। कारण से भिन्न कार्य नहीं होता। जब कारण सदरुप है तो उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे हो सकता है? पट तंतुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तंतुओं का ही एक धर्म है। जो जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नहीं होता, जैसे गाय अश्व से भिन्न है तो वह उसका धर्म भी नहीं है। कारणभाव का अर्थ उपादानोपादेय भाव भी है। जिन वस्तुओं में उपादानोपादेयभाव होता है वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होती हैं।

19.3 सारांश

यहां यह कहा जा सकता है कि जिन दो वस्तुओं में अर्थ क्रिया भिन्न–भिन्न होती है वे एक दूसरे से भिन्न होती हैं। तन्तु से कपड़ा सीने का काम लिया जाता है तथा पट से आच्छादन का। घड़े से जल ले आया जाता है जो मिट्टी से कदापि संभव नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों को अभिन्न कहना कहाँ तक उपयुक्त है? इसका उत्तर यह है कि अर्थ–क्रिया की व्यवस्था वस्तु के भिन्न होने का कारण नहीं है। एक ही अग्नि के दाहक, पाचक और प्रकाशक होने से वह अनेक नहीं हो जाता। इसके विपरीत अनेक भृत्य मिलकर पालकी ढोने का एक काम करते हैं उससे वे सब अभिन्न नहीं हो सकते? जहाँ तक तन्तुओं का सम्बन्ध है; अकेले वह आच्छादन नहीं कर सकते पर मिलकर वहीं आच्छादन करने लगते हैं। इस उपर्युक्त युक्ति से यहीं सिद्ध होता है कि कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी विद्यमान रहता है। उसका कार्य के रुप में आविर्भाव हुआ करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के आधार पर पंचमहाभूत से लेकर महत् तक के सभी स्थूल – सूक्ष्म तत्त्व अपने कारणों में तिरोहित होते हुए अन्त मे अपने तीनों गुणों में विलीन ही बने रहते हैं जिनकी साम्यावस्था का ही नाम मूलप्रकृति, अव्यक्त या प्रधान है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की यहीं कृतार्थता है।

19.4 शब्दावली

उपादानग्रहणात् : उपादान समवायि कारण को कहते हैं, उसका ग्रहण कार्य से संबन्धित होना है।

असतकरणात् : सत् रूप में अविद्यमान को उत्पन्न करना असंभव है।

सर्वसंभवभावात् : किसी भी वस्तु से सभी की संभावना नहीं होती। निश्चित वस्तु की संभावना निश्चित शक्ति से होती है।

कारणभावात् : कार्य कारण अभिन्नता, कार्यसदा कारणात्मक होता है।

षक्तस्यषक्यकरणात् : सभी कारणों में समान शक्ति का न होना।

19.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमूदीसहित।
2. सांख्यकारिका डॉ. सगजाननशास्त्री मूसलगांवकरकृत हिन्दी अनुवाद सहित, चौखम्भासंस्कृत संस्थान, सातवां संस्करण 2000।
3. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्यसहित, पं.श्रीज्वालाप्रसादगौडकृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पुनर्मुद्रित, 2001।
4. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकासहित।
5. सांख्यकारिका डॉ. रमाशंकरत्रिपाठीकृत तत्त्वप्रभा संस्कृतटीका, हिन्दी अनुवाद सहित,वाराणसी,कृष्णदास अकादमी।
6. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, माठरकृतमाठरवृत्तिसहित, पं. थानेशचन्द्र उप्रेतीकृत हिन्दीव्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2001।
7. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमूदी, पण्डित श्रीणवल्लभाचार्यस्वामीनारायणविरचिता।
8. सांख्यकारिका, तत्त्वकौमूदीकिरणावली, श्रीकृष्णवल्लभाचार्यस्वामीनारायणकृतसांख्यकारिकाभाष्यम्, गौडपादभाष्यसहितम्, वाराणसी, व्यास प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1989।

19.6 अभ्यास प्रश्न

1. सत्कार्यवाद के मण्डन में कारिकाकार ने कितनी युक्तियाँ दी हैं?
2. सत्कार्यवाद की पहली युक्ति क्या है?
3. सत्कार्यवाद की पहली युक्ति का अभिप्राय क्या है?
4. सत्कार्यवाद की दूसरी युक्ति क्या है?
5. उपादानग्रहणात् का अन्य नाम क्या है?
6. कोई भी कार्य उत्पत्ति के पूर्व किसमें विद्यमान रहता है?
7. शक्तस्य शक्यकरणात् का क्या तात्पर्य है?
8. कारणभावात् का क्या तात्पर्य है?
9. सर्वसम्भवाभावात् का क्या अर्थ है?
10. कार्यकारण भाव किसे कहते हैं?

इकाई 20 व्यक्त, अव्यक्त और गुणत्रय

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' अवलम्बित इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप–

- सांख्यदर्शन में स्वीकृत प्रमुख दो तत्वों– प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- सांख्यदर्शन में प्रधान, जड़तत्व इत्यादि संज्ञाओं को बारे में जानेंगे।
- प्रकृति एवं उसकी विकृति : त्रिगुणात्मिका – सत्व, रजस् एवं तमस् – गुणत्रय से परिचय प्राप्त करेंगे।
- पुरुष एवं प्रकृति के गहन स्वरूप की जानकारी प्राप्त करेंगे; तथा
- प्रकृति (अव्यक्त), विकृति (व्यक्त) एवं पुरुष (ज्ञ) के स्वरूप का निरूपण एवं इनके आपसी साम्य–वैषम्य का विवेचन करते हुए प्रकृति एवं पुरुष के संयोग पर सविस्तर विवेचन करेंगे।

20.1 प्रस्तावना

सांख्यकारिका सांख्य दर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थों में अन्यतम है, जिसमें सरलतम ढंग से सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। सांख्यदर्शन प्रमुखतया प्रकृति एवं पुरुष इन दो तत्वों को ही स्वीकार करता है। अतएव ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में इन दोनों तत्वों का ही मुख्यतया प्रकाशन किया है। प्रकृति एवं पुरुष के सम्यक् ज्ञान

से ही त्रिविध दुखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) के आघात से पूर्णरूपेण बचा जा सकता है–

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सापार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।।

अभिप्राय यह है कि त्रिविध दुःखों से पीड़ित मानवों को सन्ताप से बचाने के दृष्ट एवं आनुश्रविक (वैदिक) उपाय हैं, तथापि इनसे दुःखों का ऐकान्तिक (अनिवार्य) एवं आत्यन्तिक (पूर्णरूपेण) निदान संभव नहीं हैं। सांख्यकारिकाकार के अनुसार दुःखों का अनिवार्यतः एवं पूर्णतया निदान तो व्यक्त (महदादि विकार), अव्यक्त (मूलप्रकृति) एवं ज्ञ (पुरुष) के विशिष्ट (वास्तविक) ज्ञान से ही संभव है। यहाँ यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब दुःख से बचाव के दृष्ट एवं आनुश्रविक रूप सरल एवं सुगम उपाय विद्यामान हैं, तो ऐसी स्थिति में तत्वज्ञान रूप उपाय की अभिलाषा करना व्यर्थ है, जो अनेक जन्मों के अभ्यास एवं तपस्या से सिद्ध होने वाला है। यह ठीक वैसी ही बात है कि यदि समीपस्थ अर्क के वृक्ष पर शहद मिल रहा है, तो दूरस्थ एवं दुर्गम पहाड़ी पर उसे लेने के लिए जाना व्यर्थ ही है–

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्।।

प्रतिपक्षी की इस शंका का उपस्थापन सांख्यतत्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने भी किया है। यतः शारीरिक दुःखों को दूर करने हेतु श्रेष्ठ वैद्य से सैकड़ों उपाय मिल सकते हैं, मानसिक दुःख के परिताप शमनार्थ भी परिवार, भोजन, वस्त्राभूषण सहित अनेकानेक उपाय विद्यमान हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख श्रुतिश्रवण से सुकरता से दूर हो सकता है। ऐसी स्थिति में तत्वज्ञान हेतु उद्यत होना अनुचित प्रतीत होता है। इस शंका के समाधान हेतु ही ईश्वरकृष्ण ने पूर्वोक्त 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा' इत्यादि दो कारिकाओं को उपस्थापित किया है, जिसके अनुसार दृष्ट एवं आनुश्रविक उपाय दुःख के बचाव के साधन तो हैं, किन्तु इनसे दुःखों का निश्चित एवं सदा–सर्वदा के लिए शमन असंभव है। इनसे श्रेष्ठ उपाय व्यक्ताव्यक्तज्ञ के तत्वज्ञान से जन्य है, जो दुःखों के सन्ताप से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से बचाता है। संख्यदर्शन का तत्वज्ञान से दुःखमुक्ति का उपाय, श्रुतिसम्मत भी है। श्रुतियाँ भी कहती हैं– **"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" प्रकृतितोः विवेक्तव्यः, "न स पुनरावर्तते" इति।** अर्थात् अरे ! आत्मा का ज्ञान अथवा साक्षात्कार करना चाहिए, इसे प्रकृति से भिन्न समझना चाहिए, आत्मज्ञानी पुनः संसारचक्र में नहीं आता है।

सांख्यदर्शन में व्यक्त प्रकृति के विकार महदादि हैं, जिनकी संख्या 23 है – महत्(बुद्धि), अहंकार, पंचतन्मात्राएं, एकादश इन्द्रियाँ एवं पंचमहाभूत। अतीव सूक्ष्म होने से प्रकृति अव्यक्त है। प्रकृति में सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीन गुण सन्निहित हैं। प्रकृति इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इन गुणों में जब क्षोभ होता है, तब इसी प्रकृति से सृष्टि होती है। 'ज्ञ' अथवा ज्ञाता तो एकमात्र पुरुष ही है। अन्य दर्शनों में जिसे आत्मा पद से अभिहित किया गया है, उसी को सांख्यदर्शन में पुरुष पद से उपस्थापित किया गया है। यह पुरुष स्वभावतः चेतन है। अस्तु, अव्यक्त अर्थात्प्रकृति एवं उसका विकार व्यक्त वस्तुतः प्रकृति ही हैं। तदतिरिक्त 'ज्ञ' अर्थात्ज्ञाता पुरुष है। इनके सम्यक्

(विशिष्ट) ज्ञान से (विज्ञानात्) दुःखों का अनिवार्यतः सार्वकालिक निवर्तन होता है। प्रस्तुत इकाई में व्यक्ताव्यक्तप्रकृति, गुणत्रय तथा पुरुष का सविस्तर विवेचन किया जा रहा है।

20.2 व्यक्त और अव्यक्त – कारिका 10–11

प्रकृति एवं पुरुष सांख्य दर्शन में स्वीकृत दो मुख्य तत्व हैं। पुनश्च प्रकृति अव्यक्त है, तथा इसकी विकृति व्यक्त है। यह प्रकृति अपने विकृति से साम्य–वैषम्य दोनों रखती है। इसी प्रकार पुरुष वस्तुतः विकाररहित है। यह महदादि व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकृति के स्वरूपवाला भी है, और इससे भिन्न भी। अधोलिखित कारिकाद्वय (10 व 11) द्वारा ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति (अव्यक्त) एवं उसकी विकृति (व्यक्त) में भेद का प्रतिपादन करते उनमें साम्य का निर्धारण किया है, साथ ही प्रकृति एवं पुरुष के साम्य–वैषम्य का विवेचन भी कर दिया है।

हेतुमदनित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ।।10।।

प्रसंग : त्रिगुणात्मिका प्रकृति (अव्यक्त) अपने विकार (व्यक्त) के सदृश भी है और भिन्न भी। प्रस्तुत कारिका व्यक्त के उस स्वरूप का निदर्शन है, जो अव्यक्त प्रकृति में अविद्यमान है।

अर्थ : महत् आदि व्यक्त (व्यक्तम्) अपने कारण से युक्त(हेतुमत्), विनाशशील (अनित्यम्), सर्वत्र व्याप्त न रहने वाले (अव्यापि), क्रियायुक्त(सक्रियम्), अनेक (अनेकम्), अपने कारण पर आश्रित (आश्रितम), मूल कारण के सूचक (लिङ्गम्), अवयवों वाले (सावयम्), परतन्त्र (परतन्त्रम्) स्वभाव वाले हैं, जबकि अव्यक्त अथवा प्रधान प्रकृति (अव्यक्तम्) विपरीत विशेषताओं से युक्त(विपरीतम्) है।

व्याख्या : प्रस्तुत कारिका के द्वारा ईश्वरकृष्ण ने यह स्पष्ट किया है कि अव्यक्त प्रकृति अपनी विकृति से किस बात में भिन्न है। एतदर्थ उन्होंने सर्वप्रथम व्यक्त (प्रकृति के कार्य) की उन विशेषताओं का निरूपण किया है, जो अव्यक्त या प्रधान प्रकृति में नहीं होती हैं। व्यक्त महदादि 23 तत्व हैं। इनकी विशेषता है कि ये अपने कारण से युक्त होते हैं। यथा घट एक कार्य है। कार्य होने से यह हेतुमत् (कारण से युक्त) है और इसका कारण है–मिट्टी। यतः यह प्रकृति के कार्य हैं, अतः कार्य होने से इनका विनाश होता है और ये अनित्य माने जाते हैं। संसार के समस्त कार्यों में ये लक्षण घटित होते हैं क्योंकि ये सभी प्रकृति की विकृति ही हैं। व्यक्त देश–काल की सीमा सन्निहित है। अतः इसे सर्वत्र व्याप्त नहीं माना जा सकता है। फलतः व्यक्त अव्यापि है। व्यक्त क्रियाशील होता है और यह एक न होकर अनेक है। महदादि से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त व्यक्त की संख्या 23 है। व्यक्त अपने कारण अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति पर आश्रित है और मूलप्रकृति का ज्ञापक (सूचक) भी है। मूल प्रकृति अति सूक्ष्म होने के कारण अव्यक्त मानी जाती है। उसका ज्ञान उसके कार्यों अर्थात् तदुत्पन्न विकृतियों से ही होता है। व्यक्त अवयवों वाला है। अवयवों वाला होने से इसका विभाजन भी संभव है। यह परतन्त्र होता है। व्यक्त के परतन्त्र होने का अभिप्राय यह है कि व्यक्त अपने कार्यों को उत्पन्न करने में अपने पूर्ववर्ती कारणों की अपेक्षा रखता है। ये सभी विशेषताएं व्यक्त की हैं। अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति ठीक इसके विपरीत है। क्योंकि मूल कारण होने से यह अव्यक्त या प्रधान अहेतुमत् (कारण से रहित) है, नित्य है, व्यापक

है, निष्क्रिय है, एक है, अनाश्रित या स्वतन्त्र है, अलिङ्ग है अर्थात् यह किसी की सूचक नहीं है, अवयव रहित और स्वतन्त्र है।

विशेष : अव्यक्त अथवा प्रधान प्रकृति अपने व्यक्त स्वरूप महदादि से विपरीत है। महदादि का कारण प्रकृति व तज्जन्य विकृतियाँ हैं, जबकि प्रकृति स्वयं अकारण है। अर्थात्प्रकृति का कोई भी कारण नहीं है। अतएव यह किसी कार्य भी नहीं है, फलतः नित्य है। यह सर्वगत या सभी में व्याप्त है अतः इसे व्यापक भी माना जाता है। सभी में अनुस्यूत होने से यह निष्क्रिय है। मूल प्रकृति सबका प्रधान कारण है, अतः यह एक है, न कि व्यक्त की तरह अनेक। स्वयं सबका कारण होकर भी इसका कोई भी कारण नहीं है, अतः यह किसी पर आश्रित न होकर अनाश्रित या स्वतन्त्र है। यह किसी का ज्ञापक अथवा सूचक नहीं है, क्योंकि यह सबका मूल कारण है, अतः यह अलिङ्ग है। यह अवयव से रहित है। अति सूक्ष्म होने से इसका विभाग संभव नहीं है अतः यह निरवयव है। अपने कार्य को उत्पन्न करने हेतु यह किसी भी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है, फलतः यह स्वयं समर्थ होने से स्वतन्त्र है। इसी रूप में यह अपनी विकृति अर्थात् व्यक्त से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यतत्वकौमुदी में लिखा है कि अव्यक्तप्रकृति व्यक्त से विपरीत है। अव्यक्त अहेतुमत्, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय (वस्तुतः अव्यक्त में परिणाम रूपी क्रिया विद्यमान है, तथापि परिस्पन्दन या संचलन से रहित होने से निष्क्रिय है), एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है–

विपरीतमव्यक्तम् व्यक्तात् अहेतुमत्, नित्यं, व्यापि, निष्क्रियम्–यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणा क्रिया तथापि परिस्पन्दो नास्ति, एकम्, अनाश्रितम्, अलिङ्गम्, अनवयवम्, स्वतन्त्रम् अव्यक्तम्।

त्रिगुणमविवकिविषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानम् , तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।11।।

प्रसंग : अव्यक्त अथवा प्रधान प्रकृति व्यक्त से भिन्न है। इसका विवेचन ठीक पूर्वकारिका में किया जा चुका है। सम्प्रति ईश्वरकृष्ण अव्यक्त एवं व्यक्त के सदृश विशेषताओं (साम्यता) का निरूपण करते हुए प्रकृति, विकृति (व्यक्त) एवं पुरुष के साम्य–वैषम्य का विवेचन कर रहे हैं।

अर्थ : व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही (व्यक्तं तथा प्रधानम्) त्रिगुणात्मक (त्रिगुणम्), अपृथक् (अविवेकि), विषय (विषयः), सामान्य (सामान्यम्), अचेतन (अचेतनम्) तथा परिणामी (प्रसवधर्मि) हैं। पुरुष (पुमान्) उन दोनों (व्यक्त एवं अव्यक्त) से विपरीत भी है (तद्विपरीतः) एवं सदृश भी है (तथा च)।

व्याख्या : व्यक्त अर्थात् महदादि तेईस तत्वों का समूह एवं अव्यक्तप्रकृति त्रिगुणात्मक हैं। इनमें सत्व, रजस् एवं तमस् गुण विद्यमान हैं। महदादि व्यक्त एवं अव्यक्तप्रकृति अविविक्त या अपृथक् हैं। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुणोपेत होना इनका स्वभाव है। जिससे इन्हें विविक्त या अलग नहीं किया जा सकता है। अस्तु, प्रकृति अपने विकृति महदादि से अपृथक् है, तथा महदादि भी प्रकृति के सरूप वाले हैं, यतः प्रकृति से ही उत्पन्न हैं। अतः इनमें कार्य–कारण का सम्बन्ध है। जिस प्रकार कार्य अपने कारण के स्वरूप वाला ही होता है, वैसे ही महदादि प्रकृति की विकृति (कार्य) होने से उससे अविविक्त, अभिन्न या अपृथक् हैं। व्यक्त तथा अव्यक्त विषय हैं। विषय अर्थात् ज्ञेय या प्रमेय हैं, जो ज्ञान से ग्राह्य हैं। दोनों ही सामान्य हैं। अर्थात् एक ही समय में अनेक पुरुषों के द्वारा ग्राह्य हैं। अतएव विशेष न होकर सामान्य या

साधारण हैं। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही जड़ हैं। यतः सांख्यदर्शन में चेतन केवल पुरुष को ही माना गया है। पुरुष के अतिरिक्त प्रकृति को जड़ या अचेतन स्वीकार किया गया है। प्रकृति से उत्पन्न व्यक्त भी जड़ ही है। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही प्रसवधर्मी हैं। अर्थात् दोनों में परिणाम संभव है। प्रकृति का परिणाम या विकार महदादि व्यक्त तत्व हैं। महदादि भी अपने–अपने परवर्ती कार्यों के प्रति कारण हैं। कारण होने से परिणामी या प्रसवधर्मी हैं। जबकि पुरुष व्यक्त, अव्यक्त से विपरीत है और उनके समान भी है। पुरुष अव्यक्त प्रकृति से त्रिगुणात्मक इत्यादि विशेषताओं में वैषम्य और अहेतुमत् इत्यादि विशेषताओं में साम्यता रखता है। इसी प्रकार व्यक्त(महदादि) से त्रिगुणत्व इत्यादि से विपरीत है, जबकि अनेकत्व विशेषता में समान है।

विशेष : व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी हैं। पुरुष व्यक्त, अव्यक्त से विपरीत है, क्योंकि यह इनके स्वरूप से भिन्न निर्गुण, विविक्त है। व्यक्त, अव्यक्त विषय हैं, अतः प्रमेय हैं, जबकि पुरुष प्रमेय न होकर प्रमाता या ज्ञाता है। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों अनेक पुरुषों द्वारा ग्राह्य होने से सामान्य हैं, जबकि पुरुष स्वयं ग्राह्य न होकर ग्राहक है, अतएव यह सामान्य नहीं अपितु विशेष है। अव्यक्त प्रकृति एवं तज्जन्य व्यक्त महदादि जड़ हैं, अतः अचेतन हैं, जबकि पुरुष स्वभावतः ही चेतन है। व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों ही प्रसवधर्मी या परिणामशील हैं, जबकि पुरुष अपरिणामी है। इन विशेषताओं में पुरुष व्यक्त एवं अव्यक्त से भिन्न या विपरीत है। जबकि वह प्रकृति के समान अहेतुमत् (कारण से रहित) है, नित्य है, व्यापक है, निष्क्रिय है, अनाश्रित है, अलिङ्ग है, निरवयव और स्वतन्त्र है। तथा व्यक्त के समान अनेक भी है। इस प्रकार पुरुष व्यक्त, अव्यक्त के सदृश भी है, और दोनों से भिन्न भी है। सांख्यतत्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने भी इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्यक्त (त्रिगुणादि) विशेषताओं वाला है, उसी प्रकार अव्यक्त भी है। व्यक्त, अव्यक्त से पुरुष विपरीत है, अर्थात् निर्गुण, विविक्त, विषयी, विशिष्ट, चेतन, अप्रसवधर्मी है। यह अहेतुमत्वादि में साधर्म्य रखता है, तथा अत्रैगुण्यादि में वैधर्म्य रखता है–

व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति – तथा प्रधानमिति। यथा व्यक्तं, तथाव्यक्तमित्यर्थः। ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याहः तद्विपरीतः पुमान् इति। स्यादेतत् अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवनेकत्त्व व्यक्तसाधर्म्यम्, तत्कथमुच्यते "तद्विपरीतः पुमान्" इति? अत आह –"तथा च" इति। चकारोऽप्यर्थः। यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकं साधर्म्यं तथाप्यत्र त्रैगुण्यादिवैपरीत्यमस्त्येवेत्यर्थः।

20.3 गुणत्रय – कारिका 12–14

सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीन गुण हैं, जिन्हें त्रिगुण से अभिहित किया जाता है। ये तीनों गुण अव्यक्त प्रकृति एवं महदादि व्यक्त में विद्यमान होते हैं। जब प्रकृति में इनकी साम्यावस्था रहती है, तब तक वह मूल प्रकृति रहती है। अर्थात् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। गुणों में क्षोभ या न्यूनाधिक्यता होते ही प्रकृति से विकृतियों की उत्पत्ति होती है। यही प्रकृति की सृष्टि है। सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण वस्तुतः प्रकृति (अव्यक्त) के ही गुण हैं, तथापि महदादि व्यक्त(विकृतियों) में भी इनकी विद्यमानता होती है, क्योंकि प्रकृति से जन्य महदादि अव्यक्तप्रकृति के कार्य होने से गुणों में उसके

स्वरूप वाले होते हैं। आगे की कारिकाओं में इन तीनों गुणों के, स्वभाव, स्वरूप एवं वैशिष्ट्य का विवेचन किया जा रहा है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।12।।

प्रसंग : त्रिगुणम् इत्यादि कारिका द्वारा अव्यक्त एवं व्यक्त की विशेषताओं का निरूपण किया जा चुका है। प्रस्तुत कारिका में त्रिगुणम् से इंगित तीनों गुणों (सत्व, रजस् एवं तमस्) का व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है।

अर्थ :सत्व, रजस् एवं तमस् गुण (गुणाः) सुख (प्रीति), दुःख (अप्रीति) एवं मोह (विषादात्मक) स्वभाव वाले हैं। प्रकाशन (प्रकाश), प्रवर्तन (प्रवृत्ति) तथा नियन्त्रण (नियमार्थ) प्रयोजन या कार्य वाले हैं। तथा ये एक दूसरे को (अन्योन्य) दबाने (अभिभव) करने वाले, आश्रय बनने वाले (आश्रय), उद्भव (जनन) करने वाले तथा मिलकर कार्य करने के व्यवहार वाले होते हैं (मिथुनवृत्तयः)।

व्याख्या : ईश्वरकृष्ण ने प्रस्तुत कारिका में त्रिगुणों के स्वभाव, प्रयोजन एवं व्यवहार का उपस्थापन किया है। स्वभावतः तीनों गुण क्रमशः सुखात्मक, दुःखात्मक एवं मोहात्मक हैं। अर्थात् सत्व गुण सुख प्रदायक, रजस् गुण दुःखदायक एवं तमस् गुण मोहात्मक है। इसी प्रकार सत्वगुण का प्रयोजन है–प्रकाशन। रजस् गुण का प्रयोजन प्रवृति है तथा तमस् गुण नियन्त्रण या नियमन करता है। व्यवहारतः ये तीनों गुण एक–दूसरे का अभिभव (दबाने) करने (दबाने) वाले हैं, उद्भव या जनन करने वाले हैं तथा (प्रयोजन विशेष की सिद्धि हेतु आपस में) मिलकर कार्य करने वाले हैं।

विशेष : प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने गुणाः कहकर गुणों का आधान तो किया है, किन्तु क्रमानुसार उनके नाम का उल्लेख नहीं किया है। और **'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः'** इत्यादि पद से उनके स्वभाव का उल्लेख कर दिया है। साथ ही **'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः'** के द्वारा उनके प्रयोजन को भी उपस्थापित किया है। ऐसी स्थिति में किस गुण का स्वभाव एवं प्रयोजन क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। इसका परिष्कार वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्वकौमुदी में किया है। उनके अनुसार इस कारिका के आगे की (13वीं) कारिका में जिस क्रम से गुणों का अभिधान किया गया है, उसी क्रम का सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए। यतः अगली कारिका में सत्व, रजस ्एवं तमस् इस क्रम से गुणों का कथन है, अतः प्रीत्यादि लक्षणों का सत्वादि के साथ संगति इसी क्रम से करनी चाहिए। अतः सत्व सुखदायक, रजस् दुःखदायक एवं तमस् मोहात्मक है और प्रकाशन, प्रवृत्ति एवं नियमन क्रमशः इनके प्रयोजन हैं; अथवा मीमांसाशास्त्र की युक्ति से प्रीति आदि के विषय का यथाक्रम सुनिश्चित करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रीति का अर्थ सुख है, सत्व गुण सुखात्मक होता है। अप्रीति का अर्थ दुःख है, रजस् गुण दुखात्मक है और विषाद का अर्थ मोह है, अतः तमोगुण मोहात्मक है –

त्रिगुणमित्युक्तम्, तत्र के ते त्रयो गुणा, किं च तदुपलक्षणमित्यत आह – 'गुणाः' इति परार्थाः। 'सत्वं लघु प्रकाशकम्–' (का.–13) इत्यत्र च सत्वादयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते। तदनागतावेक्षेण तन्त्रयुक्तया वा प्रीत्यादीनां यथासंख्यं वेदितव्यम्। एतदुक्तं भवति –प्रीतिः सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्वगुणः। अप्रीतिः दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः। विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुणः इत्यर्थः।

**सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।13 ।।**

प्रसंग : प्रस्तुत कारिका में सत्वादि गुणों के स्वरूप का विवेचन किया गया है। सत्वादि गुणों के क्रमशः प्रकाशन, प्रवृत्ति एवं नियमन ये तीन प्रयोजन होते हैं। सम्प्रति इन गुणों तथा इसके प्रयोजनों का सकारण उपस्थापन किया जा रहा है।

अर्थ : सत्व हल्का अतएव प्रकाशक (सत्वं लघुप्रकाशकम्), रजस् क्रियाशील (चंचल) अतएव प्रेरक या प्रवर्तक (रजः चलं उपष्टम्भकं च), एवं तमस् भारी अतएव अवरोधक (नियामक) माना गया है (तमः गुरु वरणकमेव)। प्रयोजनवश अर्थात् कार्य की सिद्धि के लिए (अर्थतः) ये गुण दीपक के समान (प्रदीपवत्) व्यवहार या कार्य करते हैं।

व्याख्या : प्रकृति में तीन गुण सन्निहित हैं – सत्व, रजस् एवं तमस्। इनमें सत्व गुण का कार्य प्रकाशन है, रजोगुण का कार्य प्रवर्तन है, जबकि तमोगुण नियमन का कार्य करता है। सत्वादि गुणों के प्रकाशनादि कार्यों या प्रयोजनों का विशेष कारण है। यतः सत्वगुण हल्का होता है, अतः यह प्रकाशित करने वाला है। रजोगुण क्रियाशील है, अतः इसका मुख्य प्रयोजन प्रेरित करना या प्रवर्तन करना है। तमोगुण भारी होता है, अतः यह अवरोध उत्पन्न करने वाला या नियमन करने वाला है।

विशेष : सांख्यतत्वकौमुदी में सत्व आदि गुणों के प्रकाशनादि प्रयोजनों का सकारण निरूपण किया गया है। वाचस्पति मिश्र का अभिमत है कि सत्वगुण लाघव स्वरूप वाला है, जो ऊर्ध्वगमन का हेतु एवं मन्दता का प्रतिद्वन्द्वी होता है। इससे ही अग्नि का ऊपर की ओर जलना संभव होता है–**सत्वमेव लघुप्रकाशमिष्टं सांख्याचार्यैः। तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति।** सत्व एवं रजस् स्वभावतः क्रियाहीन हैं। रजस् गुण के कारण ही वे प्रेरित अथवा उत्साहित किए जाते हैं, अतः रजोगुण को प्रेरक या प्रवर्तक माना जाता है–**सत्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिः प्रत्यवसीदती रजसोपष्टभ्येते – अवसादात्, प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं प्रयत्नं कार्येते। तदिदमुक्तम्– "गुरु वरणकमेव तमः" इति।** रजोगुण से चलायमान होने पर भी तमोगुण अपने भारीपन के कारण उसके प्रेरकत्व का प्रतिबन्धी बन जाता है, फलतः रजोगुण यत्र–तत्र ही प्रवृत्त कराने में सफल हो पाता है। इसीलिए तमोगुण को नियामक या अवरोधक स्वीकार किया जाता है– रजसात्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत् गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र–तत्र प्रर्वृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्तयत इति ततस्ततो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम्– "गुरुवरणकमेव तमः" इति।

**अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ।।14।।**

प्रसंग : प्रस्तुत कारिका में प्रथमतः त्रैगुण्य के आधार पर व्यक्त महदादि तेईस तत्वों में अविवेकित्वादि की सिद्धि की गयी है, तदनन्तर व्यक्त के आधार पर इसके कारणभूत अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि भी कर दी गयी है।

अर्थ : (व्यक्त में) त्रैगुण्य से (त्रैगुण्यात्) अविवेकित्व इत्यादि धर्मों की (अविवेक्यादेः) सत्ता सिद्ध होती है (सिद्धिः)। क्योंकि अविवेकी आदि धर्मों का अभाव होने से (व्यक्त में) त्रैगुण्य का अभाव हो जाता है (तद्विपर्ययाभावात्)। यतः कार्य, कारण के गुणों वाला

होता है (कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात्), अतः (व्यक्त के कारण) अव्यक्त या प्रधान की सत्ता भी सिद्ध है (अव्यक्तमपि सिद्धम्)।

व्याख्या : महदादि व्यक्त पदार्थ सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों वाले हैं। त्रिगुणात्मक होने से इनमें अविवेकी, विषय, प्रसवधर्मी इत्यादि धर्मों की भी सिद्धि होती है। यदि व्यक्त में अविवेकी इत्यादि धर्मों का अभाव माना जाएगा, तब इसमें त्रिगुणों का भी अभाव स्वीकार करना पड़ेगा। ठीक उसी तरह जैसे पुरुष में अविवेकी इत्यादि धर्मों की अनुपस्थिति होने से ही वह त्रिगुणातीत होता है। त्रिगुणत्व के कारण व्यक्त महदादि में अविवेकी इत्यादि धर्म सन्निहित हैं, यह सिद्ध होता है। कार्य अपने कारण के सदृश ही होता है। जैसे घट, मिट्टी से जन्य होने से मिट्टी का कार्य है, और मिट्टी के गुणों वाला भी होता है। इसी प्रकार महदादि व्यक्त, अव्यक्त प्रकृति के कार्य हैं। अतएव व्यक्त रूप कार्य के त्रिगुणत्व एवं अविवेकित्व इत्यादि धर्मों के आधार पर इन्हीं विशेषताओं से युक्त इसके मूल कारण प्रकृति की सत्ता भी सिद्ध होती है। अर्थात् महदादि व्यक्त कार्य हैं। ये हेतुमत् हैं, यानी इनका कोई न कोई कारण अवश्य है, जो इनकी विशेषताओं से युक्त भी है। वह कारण अव्यक्त प्रकृति है, जो त्रिगुणात्मिका होने के साथ–साथ अविवेकी इत्यादि धर्मोपेत भी है।

विशेष : वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्वकौमुदी में त्रिगुणत्व के आधार पर व्यक्त संसार में अविवेकी आदि धर्मों की सिद्धि हेतु पाणिनि सूत्र को उपस्थापित करते हुए व्यक्त संसार की विशेषताओं वाले उसके कारणभूत अव्यक्त की सत्ता को सिद्ध किया है। **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (पा. सू. 1/4/22) सूत्र में अवस्थित द्वि और एक पदों से द्वित्व एवं एकत्व अभिप्रेत हैं, अन्यथा इस सूत्र में '**द्व्येकेषु**' पद प्रयुक्त होता। अप्रत्यक्षभूत अव्यक्त में अविवेकी आदि धर्मों की सिद्धि उनके त्रिगुणात्मक होने से होती है। इसकी सिद्धि का साधक व्यतिरेक व्याप्ति है। इसका स्वरूप है – जहाँ–जहाँ अविवेकी इत्यादि धर्म नहीं होते हैं, वहाँ–वहाँ त्रिगुणत्व भी नहीं होता है, यथा– पुरुष। इस प्रकार अविवेकित्वादि के अभाव होने पर त्रैगुण्य का अभाव होने से अव्यक्त आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों में अविवेकित्वादि धर्मों की सिद्धि होती है–

अविवेकित्वमविवेकि। यथा – द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (पा. सू. 1/4/22) इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्। कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह – "त्रैगुण्यात्" इति। यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि, यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम् – इति स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः। व्यतिरेकमाह – 'तद्विपर्ययाभावात्' इति अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात् अथवा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्यान्वयाभावेनावीति एव हेतुस्त्रैगुण्यादिति वक्तव्यः। स्यादेतत्– अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिध्यन्ति...इति।

20.4 अव्यक्त की सृष्टिकारणता – कारिका 15–16

मूल प्रकृति अव्यक्त है। यह त्रिगुणात्मक अचेतन है। यह स्वरूपतः अव्यक्त या अप्रत्यक्ष है। इसकी उपलब्धि इसके महदादि कार्यों से होती है। अप्रत्यक्षगोचर यह अव्यक्त प्रकृति प्रधान कहलाती है तथा यही सकल चराचर संसार के रूप में स्वयं को परिणत भी करती है। वस्तुतः यह महदादि व्यक्त से उद्भूत समग्र सृष्टि की उपादान कारण है, जो विविध रूपों में परिणत हो जाती है। ईश्वरकृष्ण ने आगे की दो कारिकाओं में इस अव्यक्त प्रकृति की सृष्टिकारणता को उपस्थापित किया है।

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ।।15।।
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।।16।।

प्रसंग : सांख्य सम्मत प्रमुख दो ही तत्व हैं – अव्यक्त अथवा प्रकृति और पुरुष। पुरुष न तो किसी का कारण है और न ही किसी का कार्य। किन्तु अव्यक्त प्रकृति से महदादि तेईस व्यक्त तत्वों की उत्पत्ति होती है। यह अव्यक्त स्वयं कारण रहित होकर भी समस्त सृष्टि का कारण है। सम्प्रति अव्यक्त की सृष्टिकारणता का विवेचन किया जा रहा है।

अर्थ : कार्यों (महदादि भेदों) के परिमित होने से (भेदानां परिणामात्), कारण का कार्य में समन्वित होने से (समन्वयात्), शक्ति से प्रवृत्त होने से (शक्तितः प्रवृत्तेश्च), कारण से कार्य के विभाग या उत्पन्न होने से (कारणकार्यविभागात्), विश्वरूप के अपने कारण में अविभक्त या लीन होने से (वैश्वरूप्यस्य कारणम् अविभागात्), अव्यक्त(की सत्ता) है (अव्यक्तम् अस्ति) । वह (अव्यक्तरूप कारण) तीनों गुणों के समुदाय (मिश्रण) से (त्रिगुणतः समुदयात्), जल के समान (सलिलवत्), एक–एक गुण के अवलम्बन के भेद से (प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्) परिणत होता है (परिणामतः प्रवर्तते)।

व्याख्या : मूल कारण प्रकृति स्वरूपतः अव्यक्त है। इसकी सिद्धि हेतु ईश्वरकृष्ण ने पाँच प्रमुख तर्क दिए हैं। प्रथम तर्क यह है कि महदादि व्यक्त (कार्य) परिमित अथवा सीमित हैं। क्योंकि इनका भी कारण विद्यमान है। ससीम होने से महदादि व्यक्त मूल कारण नहीं हो सकते हैं। मूल कारण सीमित नहीं होगा। अतः असीम या अपरिमित कारण ही अव्यक्त प्रकृति है। द्वितीय तर्क यह है कि कारण अपने कार्य में समन्वित (अनुस्यूत) होता है। तात्पर्य यह है कि प्रधान कारण आकारविहीन होकर अपने कार्यों से अभिव्यक्त होगा। महदादि आकारविहीन नहीं हैं। फलतः व्यक्त हैं। अतः इनसे भिन्न आकाररहित प्रधान कारण अव्यक्त प्रकृति है, जो इनमें समन्वित होकर इन सबका कारण है। तीसरा तर्क है शक्ति अथवा सामर्थ्य द्वारा प्रवृत्त होने से। कारण अपने कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है और इसकी उत्पत्ति हेतु प्रवृत्त होता है। अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त को उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी है और एतदर्थ वह उसमें प्रवृत्ति भी होती है, अतः मूल कारण अव्यक्त है। चौथा तर्क कारण से कार्य की उत्पत्ति होना है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त प्रकृति मूल कारण है, जिससे महदादि त्रिगुणात्मक व्यक्त कार्य हैं उत्पन्न होते हैं। पांचवाँ तर्क है नाना रूपात्मक विश्व को अपने अन्दर समाहित कर लेने से। अभिप्राय यह है कि यह सकल चराचर संसार नाना रूपात्मक है। इसका कारण वही हो सकता है, जिसमें यह समाहित हो सके। चराचर संसार या विश्व सुख, दुःख एवं मोह स्वभाव वाला है। इसको लीन करने का सामर्थ्य अव्यक्त में है, क्योंकि यह त्रिगुणात्मक है। यह त्रिगुण ही सुख, दुःख एवं मोह का उत्पादक या जनक है। इन पांच तर्कों से मूल कारण अव्यक्त की सिद्धि होती है। यह प्रधान कारण अव्यक्त अपने सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों के द्वारा जल के समान विभिन्न कार्यों के रूप में परिणत हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जैसे जल विभिन्न आश्रयों से फलादि पदार्थों के मधुरादि रसों में परिणत हो जाता है, वैसे ही अव्यक्त अपने ही गुणों के आश्रयभेद से सुख, दुःख एवं मोहात्मक सृष्टि में परिवर्तित हो जाता है।

विशेष : महदादि सभी व्यक्त तत्व तथा इनसे उत्पन्न सकल संसार का प्रधान कारण अव्यक्त है। इसकी सिद्धि हेतु ईश्वरकृष्ण ने प्रमुख पाँच हेतुओं का उपस्थापन किया है। यह अव्यक्त प्रधान ही जलवत् सम्पूर्ण सृष्टि करती है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्वकौमुदी में अव्यक्त की सृष्टिकारणता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि व्यक्त कार्य अव्यक्त कारण से समुत्पन्न हैं, समन्वित होने से। भिन्न पदार्थों की समानरूपता ही समन्वय है। महदादि तेईस तत्वों का अध्यवसायादि लक्षण है। ये अध्यवसायादि सुख, दुःख एवं मोहात्मक प्रतीति वाले हैं। इनमें से जो अव्यक्त प्रकृति के जिस गुण या गुणाधिक्य से निष्पन्न है, उसी के स्वरूप वाला हो जाता है। अभिप्राय यह है कि अव्यक्त के सत्वगुण से निष्पन्न होने पर इनकी प्रतीति सुखात्मक होती है, इसी प्रकार रजोगुण का आधिक्य होने से दुःखात्मक जबकि तमोगुण की प्रधानता से मोहात्मक होती हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे मृत्पिण्ड या स्वर्णपिण्ड से समन्वित घट तत्द्गत मृत्पिण्ड एवं स्वर्णपिण्ड कारण से जन्य हैं। ऐसे ही महदादि व्यक्त एवं सकलसृष्टि का कारण अव्यक्त है। अव्यक्त का सकल सृष्टि में परिणमन जल की तरह होता है। जिस प्रकार मेघ के द्वारा बरसाया हुआ जल वस्तुतः एक रस वाला ही है, तथापि आम, नारियल, ताड़, बेल, ईख, इमली इत्यादि फलों के आश्रय से विविध रसों में परिणत होकर खट्टे, मीठे, नमकीन इत्यादि स्वाद वाला हो जाता है। ठीक उसी प्रकार यह अव्यक्त एक–एक गुण के प्राधान्य से सुख, दुःख एवं मोहात्मक सृष्टि का कारण बनता है –

"परिणामतः सलिलवत्" इति। यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालीविल्बचिरबिल्बतिन्दुकामलकप्राचीनामलकपित्थ–फलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, ऐवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्याप्रधानगुणाः परिणामभेदान्प्रवर्तयन्ति। तदिदमुक्तम् –"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"। एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः।

20.5 पुरुष के अस्तित्व की सिद्धि – कारिका 17

अव्यक्त के अतिरिक्त पुरुष सांख्यसम्मत दो प्रमुख तत्वों में परिगणित है। पुरुष न तो प्रकृति है और न ही किसी की विकृति है। यह चेतन, साक्षी, द्रष्टा इत्यादि धर्मों वाला है। आगे की तीन कारिकाओं में ईश्वरकृष्ण ने पुरुष की सत्ता को सिद्ध करते हुए उसके बहुत्त्व एवं साक्षित्वात्वादि धर्मों का उपस्थापन किया है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्यादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।17।।

प्रसंग : प्रकृति का यथातथ्य निरूपण करने के पश्चात् सांख्यसम्मत पुरुष के स्वरूप एवं उसके विविध धर्मों का निरूपण किया जाना है। एतदर्थ सर्वप्रथम पुरुष की सत्ता की सिद्धि आवश्यक है। अतएव प्रस्तुत कारिका में पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने वाले कारणों का विवेचन किया जा रहा है।

अर्थ : संघात (संयुक्त) वस्तुओं के परार्थ होने से (संघातपरार्थत्वात्), त्रिगुणात्मक वस्तुओं से विपरीत की अपेक्षा होने से (त्रिगुणादिविपर्यात्), संघटित वस्तुओं के अधिष्ठान की अपेक्षा से (अधिष्ठानात्), संघटनात्मक पदार्थों के भोक्ता होने की अपेक्षा से (भोक्तृभावात्) और मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति होने से (कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च) पुरुष (की सत्ता) है (पुरुषोऽस्ति)।

व्याख्या : सांख्यदर्शन में कुल 25 तत्व स्वीकृत हैं, किन्तु प्रकृति एवं पुरुष ही प्रमुख दो तत्व माने जाते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक, अचेतन इत्यादि विशेषताओं वाली है, जबकि पुरुष चेतन, ज्ञाता, द्रष्टा इत्यादि धर्मों वाला है। अन्य दर्शनों में जिसे आत्मा कहा गया है, वही सांख्यदर्शन में पुरुष पद से अवबोध्य है। ईश्वरकृष्ण ने पुरुष की सत्ता की सिद्धि हेतु मुख्यतया पाँच तर्क दिए हैं। प्रथम तर्क यह है कि समस्त संघटनात्मक वस्तुएं परार्थ अथवा दूसरों के लिए होती हैं। यह संसार विभिन्न तत्वों का संघटन है। संसार की समस्त वस्तुएं संघटनात्मक हैं। अतः इनको पर या दूसरों की अपेक्षा होती है। यतः ये त्रिगुणात्मक हैं, अतः ये सभी अपने से भिन्न पर (पुरुष या आत्मा) की अपेक्षा रखती हैं। पुरुष की सत्ता की सिद्धि हेतु दूसरा तर्क है त्रिगुण से विपरीत की अपेक्षा। अभिप्राय यह है कि प्रकृति, महदादि विकृति एवं समस्त संसार त्रिगुणात्मक हैं। इनके त्रिगुणात्मक होने से इससे भिन्न अर्थात् त्रिगुणरहित किसी सत्ता की अपेक्षा है। यह त्रिगुणरहित सत्ता कोई और नहीं, अपितु पुरुष ही है, जो प्रकृति से त्रिगुणादि विशेषताओं में भिन्नता रखता है। यह अव्यक्त, व्यक्त विवेचन प्रसंग में बताया जा चुका है। पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिए तीसरा तर्क यह है कि कोई भी तत्व बिना किसी अधिष्ठान के नहीं रह सकता है। प्रकृति एवं महदादि विकृतियाँ अचेतन होने से स्वयं का अधिष्ठान नहीं हो सकती हैं। अतः इनके अधिष्ठान या अधिष्ठाता के रूप में चेतन पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। पुरुष अस्तित्व के लिए चौथा तर्क यह है कि उपभोग्य वस्तुएं भोक्ता की अपेक्षा रखती हैं। संसार के समस्त संघटनात्मक पदार्थ उपभोग्य हैं और पुरुष इनका भोक्ता है। पुरुष के अस्तित्व हेतु पांचवाँ तर्क मुक्ति या मोक्ष पर आधारित है। भारतीय दर्शन का आस्तिक सम्प्रदाय जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष को मानता है, और इसकी प्राप्ति हेतु प्रेरित भी करता है। मोक्ष एक शाश्वत अवस्था है, जिसकी प्राप्ति किसी शाश्वत सत्ता को ही हो सकती है। मनुष्य का शरीरादि एवं समस्त सांसारिक वस्तुएं अनित्य हैं। अतः मोक्ष की प्रवृत्ति हेतु भी नित्य पुरुष की सत्ता अनिवार्यतः सिद्ध होती है। इस प्रकार विवेचित पाँच तर्कों या कारणों से पुरुष का अस्तित्व है, यह सिद्ध होता है।

विशेष : पुरुष सांख्याभिमान्य प्रमुख तत्व है। अव्यक्त से विपरीत विशेषताओं की अपेक्षा से ही इसकी सिद्धि होती है। अव्यक्तादि संघटक, त्रिगुणात्मक, अनधिष्ठान, भोग्य हैं। अतः इनके विपरीत की अपेक्षा से ही पुरुष की सत्ता की सिद्धि होती है। एतदतिरिक्त पुरुष की सिद्धि का जो अतीव महत्त्वपूर्ण हेतु है, वह है कैवल्य या मोक्ष हेतु प्रवृत्ति। इस तथ्य का सविस्तर विवेचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपना मत उपस्थापित किया है। उनके अनुसार दिव्यदृष्टि सम्पन्न महर्षियों की कैवल्य अथवा मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति देखी जाती है। दुःखत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति रूप में कैवल्य की कामना की गयी है। दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति महदादि को संभव नहीं है, क्योंकि ये त्रिगुणात्मक होते हैं। त्रिगुणों में रजस् गुण का स्वभाव दुःखात्मक है। अतः महदादि की कैवल्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु इनसे व्यतिरिक्त गुणातीत आत्मा या पुरुष का दुःख निवर्तन संभव है। अतः कैवल्य के प्रति प्रवृत्ति हेतु अव्यक्त से भिन्न पुरुष की सिद्धि होती है –

इतश्वास्ति पुरुष इत्याह– "कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च"। शास्त्राणां महर्षिणां दिव्यलोचनानां च कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशयनलक्षणं न बुद्धयादीनां सम्भवति। ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते। तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मनस्ततो वियोगः शक्यसम्पदाः। तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चास्ति बुद्धयादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम्।

20.6 पुरुष बहुत्व – कारिका 18

पुरुष की सत्ता की सिद्धि के पश्चात्प्रस्तुत कारिका में पुरुष की संख्या का निर्धारण किया गया है।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।18।।

प्रसंग : पुरुष एवं महदादि व्यक्त में वैषम्य होने के साथ एक समानता भी है, और वह है दोनों ही अव्यक्त प्रकृति की तरह एक न होकर अनेक हैं। ईश्वरकृष्ण द्वारा इस कारिका के माध्यम से विविध तर्कों के आलोक में पुरुष की अनेकता (बहुत्त्व) का उपस्थापन किया जा रहा है।

अर्थ : जन्म, मृत्यु एवं इन्द्रियों की पृथक्–पृथक् व्यवस्था होने से (जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्), एक साथ प्रवृत्ति न होने से (अयुगपत्प्रवृत्तेः) और सत्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों के विपर्यय से (त्रैगुण्यविपर्ययात् च) पुरुष का बहुत्त्व ही सिद्ध (होता) है (पुरुषबहुत्वं सिद्धम् एव)।

व्याख्या : अव्यक्त, व्यक्त के विवेचन प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पुरुष अव्यक्त व व्यक्त से विपरीत भी है और समान भी। प्रस्तुत कारिका में पुरुष के बहुत्त्व को सिद्ध कर महदादि व्यक्त से सादृश्य या समानता को सिद्ध कर दिया गया है। यतः महदाति भी अनेक (संख्या में तेईस) हैं। पुरुष के बहुत्त्व को सिद्ध करने के लिए तीन हेतु दिए गए हैं। प्रथम हेतु यह है कि सांसारिक प्राणियों या जीवों में जन्म, मृत्यु एवं इन्द्रियों की पृथक् व्यवस्था देखी जाती है। अभिप्राय यह है कि एक प्राणी का जन्म अथवा मृत्यु होने से सभी प्राणियों का जन्म या मृत्यु नहीं होता है। इसी प्रकार किसी प्राणी के इन्द्रिय का नाश होने पर सभी प्राणियों के इन्द्रिय का नाश नहीं होता है। इसका कारण सभी प्राणियों में पुरुष या चेतन आत्मा अलग–अलग है। इससे पुरुष के अनेकत्व की सिद्धि होती है। पुरुष के बहुत्व को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु यह है कि प्राणियों में एक साथ किसी वस्तु की प्राप्ति हेतु प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। यदि पुरुष एक होता तो सभी प्राणियों की प्रवृत्ति भी एक होती और एक जैसी होती। पुरुष की अनेकता का साधक तीसरा हेतु गुणों की स्थिति में भेद होना है। सांसारिकजनों में गुणों के भेद से सुख, दुःख एवं मोह का भेद सर्वत्र परिलक्षित होता है। इससे भी पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है। यदि पुरुषबहुत्व नहीं होता तो सभी एक समान सुख, दुःखादि का अनुभव करते। इन कारणों से यह सिद्ध होता है कि पुरुष वस्तुतः अनेक हैं।

विशेष : सांख्य सम्मत पुरुष अहेतुमत् इत्यादि विशेषताओं में अव्यक्त के सदृश है, जबकि अनेकत्व रूप में व्यक्त के समान है। पुरुष में बहुत्व की सिद्धि जन्म, मरण एवं इन्द्रिय की पृथक् व्यवस्था से, प्राणियों की अयुगपत् अर्थात् एक साथ प्रवृत्ति के अभाव से और सुख, दुःख एवं मोह में वैभिन्नता से होती है। कारिका में 'एव' पद के द्वारा पुरुष बहुत्व पर विशेष बल दिया गया है। सांख्यतत्वकौमुदीकार के अनुसार 'एव' शब्द भिन्न क्रम के साथ 'सिद्धं' पद के बाद समझना चाहिए, जो यह ध्वनित करता है कि पुरुष भेद या बहुत्त्व सिद्ध ही है, न कि असिद्ध –

इतश्च पुरुषभेद इत्याह –"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चौव" इति। एवकारो भिन्नक्रमः 'सिद्धम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः सिद्धमेव नासिद्धम्।

20.7 पुरुष में साक्षित्वादि अवशिष्ट पाँच धर्मों की सिद्धि – कारिका 19

पुरुष निर्गुण, निर्विकार, चेतन है। वह भोक्ता, सभी तत्वों का अधिष्ठान एवं मोक्ष को प्राप्त करने का अधिकारी है। उसकी सत्ता एवं बहुत्व को सिद्ध करने के पश्चात् सम्प्रति उसमें साक्षित्वादि धर्मों को उपस्थापित किया गया है।

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ।।19।।

प्रसंग : पुरुष अव्यक्त प्रकृति एवं उसकी विकृति महदादि से साम्य–वैषम्य दोनों रखता है। इनसे वैषम्य के कारण पुरुष में व्यक्ताव्यक्त में अप्राप्त साक्षी इत्यादि विशेषताएं सिद्ध होती हैं। प्रस्तुत कारिका में इसी तथ्य का विवेचन किया जा रहा है।

अर्थ : उस (अव्यक्त, व्यक्त) से विपरीत होने से (तस्मात् विपर्यासात्), इस पुरुष का (अस्य पुरुषस्य), साक्षित्व (साक्षित्वम्), कैवल्य (कैवल्यम्), माध्यस्थ (माध्यस्थ्यम्), द्रष्टृत्व (द्रष्टृत्वम्) और अकर्तृत्व धर्म (अकर्तृभावश्च) सिद्ध होते हैं (सिद्धम्)।

व्याख्या : पुरुष अव्यक्त एवं व्यक्त से विपरीत धर्मों वाला है। अर्थात् अव्यक्त एवं व्यक्त त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी हैं, जबकि पुरुष निर्गुण, विवेकसम्पन्न, ज्ञाता, विशेष, चेतन एवं अपरिणामी या अपरिवर्तनशील है। अव्यक्त, व्यक्त से विपरीत विशेषताओं के कारण यह साक्षी है, कैवल्य अथवा मोक्ष का अधिकारी है, तटस्थ या उदासीन है, द्रष्टा है अर्थात् सबका बोध करने वाला है और अकर्ता भी है। क्योंकि यह अप्रसवधर्मी अथवा अपरिणामी है, अतः निष्क्रिय या कर्तृत्व की भावना से रहित भी है।

विशेष : व्याक्ताव्यक्त के त्रिगुणादि विशेषताओं से रहित होने के कारण ही पुरुष उनसे भिन्न धर्मों वाला है। यह सभी वस्तुओं का अवबोध करता है, अतः साक्षी है। निर्गुण होने के कारण सुख, दुःख इत्यादि से रहित है। क्योंकि सुखादि गुणों के परिणाम हैं। अतः यह कैवल्य (सुख, दुःख रहित अवस्था) है। गुणातीत होने के कारण ही यह सबसे उदासीन है। यही इसकी तटस्थता या माध्यस्थ है। चेतन होने के कारण ज्ञान का अधिष्ठान एवं ज्ञाता भी यही है। एतदरिक्त अव्यक्तादि सभी अचेतन हैं, अतः यह द्रष्टा माना गया है। विकाररहित एवं निर्गुण होने से यह स्वभावतः किसी कार्य में सलग्न नहीं होता है, साथ ही यह स्वयं अपरिणामी है, फलतः यह निष्क्रिय या अकर्ता भी है। सांख्यतत्वकौमुदी में पुरुष के साक्षित्व और द्रष्टृत्व का विवेचन करते हुए उल्लिखित है कि त्रिगुणातीत होने से पुरुष में चेतनत्व एवं अविषयत्व होने से साक्षित्व और द्रष्टृत्व प्रदर्शित हो जाते हैं। यतः चेतन ही द्रष्टा होता है, न कि अचेतन। इसी प्रकार विषय का दर्शन करने वाला साक्षी होता है। जैसे संसार में वादी–प्रतिवादी अपने विषय को साक्षी को दिखाते हैं, वैसे ही यह प्रकृति अपने विषयों को पुरुष को दिखाती है, अतः पुरुष साक्षी है –

तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते। चेतनो हि द्रष्टा भवति, नाचेतनः, साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी। तथा हि लोकेप्रार्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः; एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं दर्शयितुं, इति चैतन्यादविषत्वाच्च भवति साक्षी।

20.8 प्रकृति–पुरुष का संयोग – कारिका 20–21

प्रकृति अचेतन या जड़ है, जबकि पुरुष चेतन है। दोनों एक–दूसरे के संयोग से चेतन एवं कर्ता हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रकृति एवं पुरुष के संयोजन का विशेष प्रयोजन है। प्रकृति से संयोग होने पर पुरुष में कर्तृत्त्व गुण का आधान होता है, जबकि पुरुष के संयोग से प्रकृति जो स्वभावतः जड़ है, में चेतना का संचार होता है। साथ ही प्रधान एवं पुरुष के दर्शन व कैवल्य प्राप्ति रूप प्रयोजन की सिद्धि भी होती है। आगे की दो कारिकाओं में प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से जन्य इन्हीं प्रयोजनों का निरूपण किया गया है।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्त्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।।20।।

प्रसंग– पुरुष अकर्ता है। अकर्ता होने से उसमें द्रष्टा, भोक्ता इत्यादि धर्मों की संगति भी नहीं होती है। इसी प्रकार प्रकृति के अचेतन होने पर तज्जन्य लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर में चैतन्यता नहीं हो सकती है। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ही पुरुष में कर्तृत्व एवं प्रकृति (जन्य लिङ्ग शरीर) में चेतना का संचार करता है, इसी तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कारिका में किया जा रहा है।

अर्थ : इसलिए (तस्मात्)प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से (तत्संयोगात्) जड़ लिङ्ग शरीर (अचेतनं लिङ्गम्) चेतन सदृश (चेतनावत्) हो जाता है। और प्रकृति के गुणों के कर्त्ता होने पर (गुणकर्तृत्त्वे च) उदासीन या निष्क्रिय (पुरुष) कर्ता की तरह (उदासीनः कत्ता इव) हो जाता है (भवति)।

व्याख्या : प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है। प्रकृति अपने गुणों से समस्त सृष्टि करती है। अर्थात्प्रकृति के गुण ही कर्त्ता है। अतः पुरुष कर्त्ता से भिन्न अकर्त्ता है। इसी प्रकार चेतना पुरुष का स्वाभाविक गुण है। पुरुष से भिन्न प्रकृति सर्वथा अचेतन है। अचेतन प्रकृति से जन्य महदादि से निर्मित सूक्ष्म शरीर भी अचेतन होगा। इस कारण से प्रकृति एवं पुरुष का आपसी संयोग होता है। इनके संयोग होने पर पुरुष की चेतना से संयुक्त होकर जड़ सूक्ष्म शरीर चेतन हो उठता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृ ति के साथ संयोग होने से उसके गुणों के कर्तृत्व का योग पुरुष में भी हो जाता है, अर्थात् पुरुष भी कर्त्ता के सदृश हो जाता है। अभिप्राय यह है कि पुरुष के कर्त्ता होने पर ही उसमें द्रष्टा, भोक्ता इत्यादि विशेषताओं की उपस्थिति मानी जा सकती है। पुरुषः स्वभावतः उदासीन या निष्क्रिय है, किन्तु प्रकृति से संयोग के कारण प्रकृति के गुणों का कर्तृत्त्व पुरुष में भी मान लिया जाता है, जिससे उसका द्रष्टा, भोक्ता इद्यादि होने में कोई विसंगति नहीं होती है।

विशेष : पुरुष का एक धर्म उसका उदासीन या निष्क्रिय होना भी है। जो उदासीन है, उसका भोक्ता और द्रष्टा होना असंगत है। साथ ही निष्क्रिय और चेतन होना, यह भी विपरीत बात है, क्योंकि चेतना और कर्त्ता एक ही अधिकरण में रहते हैं, यह अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार प्रकृति अचेतन है, किन्तु उसके गुण को कर्त्ता माना गया है, यह भी विरोधी बात है और अनुभव से बाधित हो जाता है। यतः जो अचेतन होगा, उसका कर्त्ता होना सर्वथा असंभव है। इसका परिहार करते हुए सांख्यतत्वकौमुदीकार कहते हैं कि चैतन्य एवं कर्तृत्त्व का समान अधिकरण मानना एक भ्रान्त धारणा है, फलतः चेतन पुरुष के निष्क्रिय होने में कोई बाधा नहीं है –

स्यादेतत्—प्रमाणेन कर्त्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इतिकृतिचैतन्ययोः समानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्, तदेतस्मिन्मते नावकल्पते चेतनस्याकर्तृत्वात् कर्त्तुश्चाचैतन्यात्, इत्यत आह — 'तस्मात्' इति। यतश्चैतन्यकर्त्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धेः, तस्मात् भ्रान्तिरियमित्यर्थः...।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।21।।

प्रसंग : प्रकृति एवं पुरुष के आपस में संयोग करने का मुख्य कारण क्या है अथवा किस विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु इनका आपस में संयोग होता है, प्रस्तुत कारिका में इसी तथ्य का प्रकाशन किया जा रहा है।

अर्थ—प्रधान (अव्यक्त प्रकृति) के दर्शनार्थ (प्रधानस्य दर्शनार्थम्) और पुरुष के कैवल्यार्थ (तथा पुरुषस्य कैवल्यार्थम्) पङ्गु एवं अन्धे के समान (पङ्ग्वन्धवत्) दोनों (प्रकृति एवं पुरुष) का भी संयोग होता है (उभयोः अपि संयोगः)। उनके संयोग से ही सृष्टि होती है (तत्कृतः सर्गः)।

व्याख्या : प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही स्वरूपतः सर्वथा विपरीत सत्ताएं हैं। एक जड़ है तो दूसरा चेतन। एक त्रिगुणात्मक है तो दूसरा त्रिगुणातीत। एक हेतुमत् अनित्यादि विशेषताओं वाला है तो दूसरा इनसे सर्वथा मुक्त। फिर परस्पर विरोधी स्वभाव वाले इन दो तत्वों के संयोग की आवश्यकता क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि प्रधान अर्थात् अव्यक्तप्रकृति के दर्शन एवं पुरुष के कैवल्य हेतु इनका आपस में पङ्गु एवं अन्धे व्यक्ति के समान संयोग होता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म एवं अव्यक्त है। इसकी उपलब्धि या दर्शन पुरुष के संयोग से होता है। पुरुष भोक्ता है, इसके लिए प्रकृति भोग्य बनती है। इसी प्रकार पुरुष के कैवल्य अर्थात् दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति प्रकृति के संयोग से ही संभव हो पाता है। परस्पर विरोधी प्रकृति एवं पुरुष का संयोग ठीक वैसा ही है, जैसे पङ्गु एवं अन्धा व्यक्ति एकदेश गमन रूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आपस में जुड़ जाते हैं। उसी तरह अपने—अपने विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रकृति एवं पुरुष का संयोग होता है। और प्रकृति—पुरुष के इस संयोग से ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है।

विशेष : प्रकृति एवं पुरुष परस्पर विरोधी हैं। विरोधी होने से इनमें संयोग की अपेक्षा नहीं होती है। प्रकृति का ध्येय है सृष्टि करना और पुरुष का लक्ष्य है कैवल्य की प्राप्ति या दुःखों से निश्चित एवं पूर्णतया मुक्त होना। प्रकृति अचेतन है, अतः स्वतः सृष्टि नहीं कर सकती है। सृष्टि हेतु उसे चेतन पुरुष की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार पुरुष जब तक दुःखों का अनुभव नहीं करेगा, तब तक वह इनसे मुक्त होने के लिए उद्यत भी नहीं होगा। दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य की अवस्था है। अतः पुरुष का दुःख से रहित होने के लिए उद्यत होना, कैवल्य प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है। पुरुष के दुःखरहित होने के लिए सर्वप्रथम सृष्टि का होना आवश्यक है। सृष्टि के बिना प्रकृति भी पुरुष के द्वारा दृष्ट नहीं होगी। एतदर्थ इनका परस्पर संयोग करना नितान्त आवाश्यक है। जैसे एक पैर से हीन (पङ्गु) एवं अन्धे को किसी स्थान विशेष तक पहुँचने हेतु आपस में संयोग करना आवश्यक है, उसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुष को अपने—अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संयोग करना आवश्यक है।

ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति। पुरुषस्यापेक्षां दर्शयति – "पुरुषस्य कैवल्यार्थम्" इति। तथा हि – भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते।

इसी तथ्य को वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्वकौमुदी में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भोग्य प्रधान का भोग्यत्व स्वरूप पुरुष के बिना असंभव है। तथा पुरुष प्रकृति के दुःखत्रय को अपना मानकर ही इससे सर्वथा रहित अवस्था कैवल्य के लिए प्रवृत्त होता है। इसलिए ही इनका आपस में संयोग आवश्यक है।

20.9 सारांश

प्रकृति एवं पुरुष सांख्यसम्मत प्रमुख दो तत्व हैं। मूल प्रकृति अव्यक्त है, तथा महदादि तेईस तत्वों का समूह व्यक्त है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, तथा इससे जन्य होने से महदादि भी त्रिगुणात्मक है। अव्यक्त (प्रकृति), व्यक्त (महदादि) एवं ज्ञ (पुरुष) के सम्यक् ज्ञान (विज्ञान) से दुःख की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति या कैवल्य की प्राप्ति होती है। जो दृष्ट (लौकिक) एवं आनुश्रविक (वैदिक) उपायों से सम्भव नहीं है। प्रस्तुत इकाई में त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति एवं तज्जन्य व्यक्त का निरूपण करते हुए प्रकृति के सत्व, रजस् एवं तमस् गुणों का सविस्तर प्रकाशन किया गया है। साथ ही व्यक्त, अव्यक्त के साम्य–वैषम्योपरान्त इनका पुरुष से साम्य–वैषम्य दर्शाया गया है। एतदतिरिक्त पुरुष की सत्ता की सिद्धि के साथ पुरुष का बहुत्ववाद, एवं प्रकृति–पुरुष संयोग के विशेष प्रयोजन का निरूपण भी किया गया है। अव्यक्त प्रकृति अचेतन एवं प्रधान है। इससे जन्य महदादि व्यक्त कुल तेईस तत्व हैं, जिनमें सात प्रकृति एवं विकृ ति दोनों हैं, जबकि सोलह तत्व ऐसे हैं, जिन्हें केवल विकार माना जाता है। पुरुष न तो किसी का कार्य है, और नहीं किसी का कारण। पुरुष चेतन, ज्ञाता, भोक्ता, द्रष्टा, माध्यस्थ एवं अकर्त्ता है। चेतन पुरुष ही कैवल्य का अधिकारी है। अव्यक्त और व्यक्त में साम्यता–वैषम्यता दोनों है। साम्यता यह है कि दोनों ही त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन एवं प्रसवधर्मी या परिणामशील हैं। और विषमता यह है कि व्यक्त हेतुमत्, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव एवं परतन्त्र है, जबकि अव्यक्त(प्रकृति) इन विशेषताओं में व्यक्त से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार पुरुष, अव्यक्त एवं व्यक्त से सदृशता एवं भिन्नता दोनों रखता है। पुरुष अव्यक्त प्रकृति की तरह ही अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव एवं स्वतन्त्र इत्यादि विशेषताओं वाला है, साथ ही व्यक्त की तरह अनेक भी है। इसी रूप में पुरुष अव्यक्त एवं व्यक्त से साम्य रखता है, जबकि त्रिगुण, अविवेकी, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मिता इत्यादि स्वरूप में अव्यक्त एवं व्यक्त से वैषम्य रखता है। अभिप्राय यह है कि अव्यक्त एवं व्यक्त दोनों ही त्रिगुण इत्यादि विशेषताओं वाले हैं, जबकि पुरुष इस रूप में इन दोनों से ही भिन्न है। स्वभावतः अचेतन प्रकृति त्रिगुणात्मक होने पर भी सृष्टि नहीं कर सकती है, इसी प्रकार चेतन पुरुष भी निष्क्रिय होने से कैवल्य प्राप्ति में असमर्थ होता है। अपने–अपने अभीष्ट की सिद्धि अर्थात्प्रकृति सृष्टि करने हेतु दर्शनार्थ जबकि पुरुष कैवल्यार्थ आपस में पङ्गु एवं अन्धे की तरह संयोग करते हैं, फलतः सकल चराचर सृष्टि होती है।

20.10 शब्दावली

अधिष्ठान– पुरुष को सभी का अधिष्ठान माना जाता है।

अव्यक्त– मूल प्रकृति अव्यक्त है। प्रधान अतीव सूक्ष्म होने से अव्यक्त है। यही सबका मुख्य कारण होने प्रधान भी कहलाती है।

उदासीन– उदासीन का अर्थ निष्क्रिय या अकर्त्ता है। यह पुरुष का विशेषण है। सांख्यसम्मत पुरुष उदासीन (अकर्त्ता) है। प्रकृति के गुणों के कारण ही इसमें कर्तृत्त्व का आधान होता है।

कारण– कार्य की उत्पत्ति के ठीक पूर्व जिसकी उपस्थिति अनिवार्य हो, और जो अन्यथासिद्ध न हो, वही कारण कहलाता है। उपादान एवं निमित्त के भेद से कारण मुख्यतया दो हैं, इसे ही न्यायादि दर्शनों में समवायि, असमवायि एवं निमित्त के भेद से तीन मान लिया गया है। समवायि एवं असमवायि वस्तुतः उपादान कारण में ही सन्निहित हैं।

कैवल्य – दुःखों की एकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति वाली अवस्था कैवल्य है। अन्य दर्शनों में इसे ही मोक्ष कहा गया है।

तमस्– तमस् तृतीय गुण है। तमोगुण अपरनाम वाला यह गुण भारी, मोहप्रदायक तथा आलस्य उत्पन्न करता है।

त्रिगुण– सत्व, रजस् एवं तमस् गुण त्रिगुण कहलाते हैं।

पुमान् – पुरुष, जिसे अन्य दर्शनों में आत्म पद से अभिहित किया जाता है, वही पुमान् या पुरुष है।

प्रकृति–विकृति– अव्यक्त से जन्य वे विकृतियाँ, जो जन्य होकर भी अन्य को उत्पन्न करती हैं, प्रकृति–विकृति कहलाती हैं। सांख्यदर्शन में इनकी संख्या सात स्वीकृत है – महत् (बुद्धि), अहंकार, पंचतन्मात्राएं (रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श)। ये सभी कारण एवं कार्य दोनों हैं। अपने पूर्ववर्ती की दृष्टि से कार्य एवं पश्चात्वर्ती की दृष्टि से कारण हैं।

प्रधान – अव्यक्त प्रकृति मूल कारण होने से प्रधान पद से भी अभिहित की जाती है।

रजस् –प्रकृति का द्वितीय गुण रजस् है। रजोगुण इसका अपर नाम है। यह चलात्मक, दुःखप्रदाता एवं प्रेरक होता है।

लिंग – लिङ्ग का अर्थ कारण या हेतु (ज्ञापक) है। प्रधान के का ज्ञापक। यह अव्यक्त प्रकृति का अनुमान कराता है। लिङ्ग शरीर को भी सांख्यकारिकाकार ने लिंग से अभिहित किया है। यतः यह ही स्थूल शरीर का हेतु (लिंग) है।

विकार – प्रकृति की वे विकृतियाँ, जो केवल कार्य हैं, किसी का कारण नहीं, विकार कहलाते हैं। इनकी संख्या सोलह है।

व्यक्त – महदादि तेईस तत्व (महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पंचतन्मात्राएं एवं पंचमहाभूत) व्यक्त के अन्तर्गत परिगणित होते हैं।

संयोग –संसर्ग या मिलन संयोग का अभिधेय है।

सत्व – सांख्य द्वारा मान्य प्रकृति का प्रथम गुण है– सत्व। यह हल्का, सुखप्रदाता एवं प्रकाश करने वाला है।

सर्ग – सर्ग का अर्थ सृष्टि होता है।

साक्षी – साक्षात्कार करने वाला साक्षी है। सांख्यदर्शन पुरुष को साक्षी मानता है। चेतनायुक्त होने से यही द्रष्टा भी है।

ज्ञ – ज्ञ का अर्थ ज्ञाता है। पुरुष चेतनायुक्त होने से ज्ञ पद से अभिहित किया जाता है।

20.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्यसहित; (व्या.) पं. श्रीज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967।
2. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, माठरवृत्तिसहित; (व्या.) पं. विष्णु प्रसाद शर्मा, चौखम्बा सिरीज ऑफिस, बनारस, 1922।
3. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, सांख्यतत्वकौमुदी सहित (व्या.) डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2000।
4. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, सांख्यतत्वकौमुदी सहिताय (सम्पा.) डॉ. रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001।
5. सांख्यतत्वकौमुदी–प्रमा, (व्या.) प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980।

20.12 अभ्यास प्रश्न

1. व्यक्ताव्यक्त एवं ज्ञ की विशेषताएं कीजिए।
2. गुणत्रय का निरूपण कीजिए।
3. महदादि व्यक्त पदार्थों का नामोल्लेख कीजिए।
4. सांख्याभिमान्य पच्चीस तत्व कौन से हैं?
5. व्यक्ताव्यक्त के साम्य का विवेचन कीजिए।
6. अव्यक्त एवं पुरुष में कौन–सी साम्यता है, लिखिए।
7. व्यक्ताव्यक्त के वैषम्य का विवेचन कीजिए।
8. पुरुष के साक्षित्वादि धर्मों का निरूपण कीजिए।
9. पुरुष एवं व्यक्त में साम्यता का निदर्शन करें।
10. पुरुष का अकर्तृत्त्व सिद्ध कीजिए।
11. प्रकृति–विकृतियों का विवेचन कीजिए।
12. सांख्यसम्मत पच्चीस तत्वों पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
13. पुरुष बहुत्त्व को सिद्ध कीजिए।
14. अव्यक्त, व्यक्त एवं ज्ञ के साम्य–वैषम्य का निरूपण कीजिए।
15. प्रकृति की सृष्टिकारणता पर प्रकाश डालिए।
16. पुरुष के अस्तित्व हेतु प्रमाण दीजिए।
17. सांख्यकारिका के आधार पर पुरुष के स्वरूप एवं विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।
18. प्रकृति एवं पुरुष के संयोग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कीजिए।

इकाई 21 सृष्टिक्रम

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप :

- सृष्टिक्रम के सांख्यसम्मत दृष्टिकोण से परिचित हो सकेंगे।
- संपूर्ण सृष्टि प्रकृति का विकास है, इस सांख्यमत के बारे में विस्तार से जानेंगे।
- सृष्टि–निर्माण की प्रक्रिया को समझ सकेंगे; तथा
- दस इंद्रियों, पंच तन्मात्राओं एवं पंच महाभूतों की उत्पत्ति, प्रकृति एवं कार्य को समझ सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

इस इकाई में सांख्य सम्मत सृष्टिक्रम संबंधी का विवेचन किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम प्रकृति से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार और अहंकार से मन सहित दस इन्द्रियों और पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पुनः पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। मूलतः यही सांख्य दर्शन की सृष्टि–प्रक्रिया है। चराचर जगत् इसीके अन्तर्गत समाहित है। पुरुष इसी के भोग में संलिप्त रहता है। इस इकाई में अत्यन्त विस्तार के साथ सृष्टि–प्रक्रिया का विवेचन किया गया है।

21.2 सृष्टिक्रम

प्रथमतः सृष्टि–प्रक्रिया का विवेचनः–

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि।।22।।

कारिकार्थ : प्रकृति से महतत्त्व की उत्पत्ति होती है (प्रकृतेर्महान्)। उससे अहंकार की उत्पत्ति होती है (ततोऽअहंकारः)। उस अहंकार से सोलह तत्त्वों का समूह उत्पन्न होता है (तस्माद्गणश्च षोडशकः)। उन सोलह में से अन्तिम पांच से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है (तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि)।।22।।

व्याख्या : सांख्य दर्शन की दृष्टि में सृष्टि की प्रक्रिया प्रकृति से शुरु होती है। सबसे पहले प्रकृति से महत्व की उत्पत्ति होती है, प्रकृतेर्महान्। यहां महान् से तात्पर्य बुद्धि है। महत्व बुद्धि को कहते हैं अर्थात् सृष्टि की प्रक्रिया में सर्वप्रथम बुद्धि उत्पन्न होती है। सांख्यशास्त्र में बुद्धि के पर्याय के रूप में महान्, मति, प्रत्यय और उपलब्धि पदों का प्रयोग किया गया है, महान्बुद्धिर्मतिः प्रत्यय उपलब्धिरिति बुद्धिपर्यायाः। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है, ततो अहंकारः। अहंकार किसी वस्तु पर अपनत्व या अधिकार की अनुभूति है। इस अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण को ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ को कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को सांख्य दर्शन में तन्मात्राएं कहा गया है। इस प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच तन्मात्राएं एवं मन इन 16 पदार्थों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। इसीलिए कारिका में कहा गया है – तस्माद्गणश्च षोडशकः। पुनः पंच तन्मात्राओं में से प्रत्येक से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी को पंच महाभूत कहते हैं। आकाशादि पंच महाभूतों की उत्पत्ति के विषय में माठर एवं गौड़पाद का कहना है कि ये तन्मात्राएं अलग–अलग स्वतंत्र रूप से महाभूतों को जन्म देती हैं। जयमंगला और वाचस्पति मिश्र का मानना है कि पूर्व–पूर्व तन्मात्राओं से युक्त होकर ही अगली तन्मात्रा अपने विशेष महाभूत को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। इसका तात्पर्य है कि शब्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत की उत्पत्ति होती है। शब्द एवं स्पर्श तन्मात्राओं से वायु महाभूत का जन्म होता है। शब्द, स्पर्श एवं रूप तन्मात्राओं से तेज महाभूत की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओं से जल महाभूत की एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राओं से पृथ्वी महाभूत का जन्म होता है इसीलिए कहा गया है– तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचमहाभूतानि। अग्रिम कारिकाओं में पंच महाभूतों को ही स्थूल कहा गया है। ये स्थूल इसलिए हैं क्योंकि इन्द्रियों से इनका प्रत्यक्ष किया जाता है।

बुद्धि निरूपण –महान् से तात्पर्य बुद्धि से है, बुद्धि का लक्षण इस प्रकार है–

> अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
> सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। 23।।

कारिकार्थ : बुद्धि अध्यवसाय है। धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य उसके सात्त्विक गुण हैं। उसके समान ही विपरीत धर्म वाला तामसी गुण होता है।

व्याख्या : इस कारिका में बुद्धि का लक्षण किया गया है। अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं। पुनः प्रश्न उठता है कि बुद्धि का अध्यवसाय क्या है? वस्तुतः अध्यवसाय एक क्रिया है। इस क्रिया के माध्यम से ही प्राणी कोई निश्चयात्मक व्यापार कर पाता है। यह लोक व्यवहार से सिद्ध है कि प्राणी सदा उपादेय वस्तु को पाना चाहता है और अनुपादेय अर्थात् निरर्थक वस्तु का त्याग करना चाहता है। वह सदा हितकारी क्रिया करता है और अहितकारी क्रिया का त्याग करता है। यह बुद्धि का ही परिणाम है। बुद्धि की अध्यवसायिका प्रवृत्ति के कारण ही ऐसा होता है। प्राणी किसी भी क्रिया के लिए तत्पर होने से पहले चार सम्भावित क्रिया करता है – आलोचन, मनन, अभिमान तथा अवधारण। आलोचन इन्द्रियों का व्यापार है। मनन मन का व्यापार है। अहंकार के कारण ही अभिमान होता है। इसके बाद प्राणी बुद्धि से क्रिया या कार्य सम्पादन का निश्चय करता है। वह सोचता है – मुझे यह कार्य करना चाहिए। मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ। इस प्रकार की निश्चयात्मक चित्त वृत्ति को ही अध्यवसाय कहते हैं

और यही बुद्धि का कार्य या व्यापार है। कई बार ये चारों क्रियायें इतने सूक्ष्म अन्तराल में होती हैं कि इनके मध्य का क्रम पता नहीं चलता है और केवल प्राणी की क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है। परन्तु यह ध्यातव्य है कि किसी भी क्रिया के सम्पादन के पूर्व आलोचन आदि क्रियायें अवश्य होती हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार अनुसार बुद्धि अचेतन है परन्तु चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण इसमें भी चेतना का आरोप हो जाता है और उसी चेतन बुद्धि में अध्यवसाय रूप क्रिया सम्भव है। इसीलिए कारिका में कहा गया है – अध्यवसायो बुद्धिः।

बुद्धि के आठ रूप हैं – धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, विराग, अनुराग, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। इनमें धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्विक रूप हैं जबकि अधर्म, अज्ञान, अनुराग और अनैश्वर्य इसके तामस रूप हैं। इस प्रकार मुख्यरूप से बुद्धि के दो रूप है – सात्विक और तामस। ये दोनों रूप एक–दूसरे के विपरीत हैं। आठ रूप इस प्रकार हैं –

1. **धर्म** : संस्कृत शास्त्रों में धर्म की परिभाषा दी गई है – यतोऽभ्ययुदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः। अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के हेतु को धर्म कहते हैं। जीवन में भौतिक उन्नति को अभ्युदय कहते हैं। निःश्रेयस् से अभिप्राय है – मोक्ष। धर्म मानव जीवन का भैतिक उन्नति एवं मोक्ष की प्रप्ति दोनों का साधन है। यज्ञ, दानादि श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन से मनुष्य अपने जीवन को सफल बनाता है। धर्म का आचरण करते हुए अपने कर्मों के सम्पादन से ही मनुष्य का जीवन सफल होता है। इसी प्रकार यम, नियम, आसन आदि अष्टांग योग के सम्पादन से मोक्ष की प्रप्ति सम्भव है। इनका आचरण ही धर्माचरण है।

2. **अधर्म** : धर्म के विपरीत आचरण को अधर्म कहा जाता है।

3. **ज्ञान** : ज्ञान एक सामान्य सी अवधारणा है परन्तु सांख्यदर्शन में इसकी एकदम अलग परिभाषा है। वहाँ मूल तत्त्व प्रकृति और पुरुष में अन्तर को जानना ही ज्ञान है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और पुरुष चेतन है। जबतक इन दोनों के अन्तर को नहीं जाना जा सकता है तब तक सांख्य प्रतिपादित मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। तत्त्वकौमुदी में कहा गया है – गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। इसप्रकार सांख्य प्रतिपादित तत्त्वों की भेदात्मिका विवेकबुद्धि को ज्ञान कहते हैं। सांख्यदर्शन का मानना है कि सांख्याचार्यों के द्वारा प्रतिपादित 25 तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष की प्रप्ति सम्भव है। वहाँ मोक्ष को अपवर्ग कहा गया है।

4. **अज्ञान** : पुरुष और प्रकृति के अविवेकबुद्धि को अज्ञान कहते हैं।

5. **विराग** : किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थान के प्रति आसक्ति का अभाव ही विराग है। सांख्याचार्यो ने विराग के दो प्रकार माने हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। लौकिक विषयों के प्रति आसक्ति का अभाव बाह्य विराग है। लौकिक वस्तु विनष्ट होने वाली होती है। अतः उनके प्रति अनासक्तिभाव रखना चाहिए। आभ्यन्तर वैराग्य से तात्पर्य है – विषयों को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान समझना। शास्त्रों में विराग की चार अवस्था मानी गई है – यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार।

6. **राग** : सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति का होना ही राग है। विराग के विपरीत आचरण करना ही राग है।

7. **ऐश्वर्य** : सांख्यदर्शन में अणिमा आदि आठ सिद्धियों की सत्ता मानी गई है। अष्ट सिद्धियों का उदय होना ही ऐश्वर्य है। इन सिद्धियों के उदित हो जाने पर मनुष्य में अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता है जिसके परिणामस्वरूप असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। सामान्य जनों के लिए असम्भव और अगम्य कार्य का सम्पादन सरल हो जाता है, यथा – अणिमा से पत्थर में प्रवेश का सामर्थ्य आ जाता है, प्राप्ति नामक ऐश्वर्य से अंगुली से चन्द्रमा को छू लेना सम्भव हो जाता है।

8. **अनैश्वर्य** : अणिमा आदि सिद्धियों का अभाव ही अनैश्वर्य है। बुद्धि के इन्हीं आठ गुणों के लिए कहा गया ह – धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। अहंकार अगला क्रम है।

अहंकार

अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपंचकष्चैव।।24।।

कारिकार्थ : अभिमान अहंकार है। उस अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है –1 ग्यारह इन्द्रियों का समूह तथा 2 पंचतन्मात्राएं।

व्याख्या : अहंकार की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि अभिमान को अहंकार कहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि अभिमान क्या है ? किसी वस्तु, स्थान, व्यक्ति इत्यादि के प्रति अपनत्व या अधिकार का भाव होना अहंकार है। जब हम कहते हैं कि यह वस्तु मेरी है, यह मेरा कार्य है, मैं इसका अधिकारी हूं, यह मेरे लिए है तब हमारे अभिमान की अभिव्यक्ति होती है। इसीको अहंकार कहते है। इसीलिए कारिका में कहा गया है – अभिमानोऽहंकारः।

अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है – 1. मन एवं दस इन्द्रियाँ एवं 2. पंच तन्मात्राएं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हाती है – ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। इनमें ज्ञानेन्द्रियों की संख्या पांच है। कान, आंख, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ है। समस्त प्राणी इनसे ही संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए इनको ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। इसी प्रकार कर्म के साधक शरीरांग कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनकी संख्या भी पांच है–मुख, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ। पायु मलद्वार को कहते हैं। शरीर का अवशिष्ट पदार्थ इसी द्वार से शरीर से बाहर निकलता है। उपस्थ जननांग को कहते हैं। इस इन्द्रिय का उपयोग प्राणी संतानोत्पत्ति एवं आनन्दानुभूति के लिए करता है। मन को भी इन्द्रिय माना जाता है। इस प्रकार मन, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ की उत्पत्ति अहंकार से होती है।

अहंकार से तन्मात्राओं की भी उत्पत्ति होती है। सांख्यदर्शन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को तन्मात्रा कहा गया है। इनकी संख्या पांच है इसीलिए इन्हें पंचतन्मात्रा कहा जाता है। वस्तुतः पंचतन्मात्राएं ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा इन्हीं पंचतन्मात्राओं का ज्ञान किया जाता है।

इस प्रकार अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है – ग्यारह इन्द्रियाँ और पांच तन्मात्राएं। इन दोनों की कुल संख्या सोलह हो जाती है। इस प्रकार अहंकार से सोलह पदार्थों की उत्पत्ति है। इसीलिए कारिका में कहा गया है – एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपंचकश्चैव।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहांकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्।। 25।।

कारिकार्थ : अहंकार के वैकृत नामक सात्विक अंश से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। भूतादि संज्ञक पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार के तामस अंश से होती है। अहंकार के राजस अंश से दोनों की उत्पत्ति होती है अर्थात् एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है (तामसस्तैजसादुभयम्)।

व्याख्या : पूर्व की कारिकाओं में बताया जा चुका है कि प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है। इसमें सत्त्व, रजस एवं तमस तीनों गुण स्वभावतः विद्यमान रहते हैं। ये तीनों गुण प्रकृति से महत् अर्थात् बुद्धि में आते हैं और महत् से अहंकार में। अहंकार में विद्यमान सत्त्व गुण से कारिका चौबीस में बताई गई ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यहां ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाले सात्त्विक गुण को वैकृत कहा गया है।

जब अहंकार में विद्यमान सात्त्विक गुण रजस एवं तमस को दबाकर स्वयं उद्रिक्त या प्रबल हो जाता है तब उसको वैकृत कहते हैं। सात्त्विक गुण के इसी वैकृत अंश से ग्यारह इन्द्रियों का जन्म होता है –सात्त्विक एकादशकः प्रर्वतते वैकृतात्।

अहंकार से उत्पन्न शब्दादि पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः पंच महाभूतों की उत्पत्ति अहंकार के तमो गुण का परिणाम है। जब अहंकार का तमोगुण सत्त्व और रजोगुण को दबाकर स्वयं प्रबल हो जाता है तब उस प्रबल तमोगुण से आकाशादि पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। तमोगुण जड़ होता है, इसीलिए ये पंच महाभूत भी जड़ होते हैं। अतः कारिका में महाभूतों की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है–भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः।

इस कारिका में रजो गुण के विषय में कहा गया है कि इससे दोनों अर्थात् सात्त्विक गुण से उत्पन्न होनेवाले एकादश इन्द्रियाँ तथा तामस गुण से उत्पन्न होनेवाले पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहां शंका होती है कि पहले तो एकादश इन्द्रियों को सत्त्व से उत्पन्न कहा गया है, इसी प्रकार पंच महाभूतों को तमस से उत्पन्न कहा गया है फिर रजस गुण से दोनों की उत्पत्ति कहने का क्या अभिप्राय है ? वस्तुतः रजो गुण के सहयोग से ही सत्त्व और रजो अपनी सृष्टि करने में समर्थ हो पाते हैं। सत्त्व एवं रजो निष्क्रिय गुण हैं। ये स्वयं किसी प्रकार की सृष्टि नहीं कर सकते हैं। रजो गुण गतिशील होता है। स्वयं गतिशील होने के कारण यह सत्त्व एवं तमस को गति प्रदान करता है जिससे ये दोनों गुण अपनी–अपनी सृष्टि करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए रजो गुण को एकादश इन्द्रियों एवं पंच महाभूतों को उत्पन्न करने वाला कहा गया है – तैजसादुभयम्।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणंरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।26।।

कारिकार्थ : आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञाानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं।

व्याख्या : इस कारिका में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की नामतः परिगणना की गई है। आंख, कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। मुख, हाथ आदि पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। कारिका में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिए किया गया है। ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि या ज्ञान की साधिका होती है। तत्त्वकौमुदी में ज्ञानेन्द्रियों की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि

यह सात्त्विक अहंकार का कार्य है और रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के प्रत्यक्षीकरण में करण हैं–सात्त्विकाहंकारकार्यत्वे सति रूपादिविषयलोचनकरणत्वं ज्ञानेन्द्रियत्वम्। इसका तात्पर्य है कि रूपादि विषयों का प्रत्यक्षीकरण ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही सम्भव है। इसके अभाव में प्राणी संसार की किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। नेत्र रूपवान वस्तु की उपलब्धि का कारण होता है। श्रोत्र शब्द की उपलब्धि का कारण होता है। नाक से गन्ध का ज्ञान होता है। जिह्वा मधुर, लवण आदि रसों की उपलब्धि का हेतु है। त्वचा रूप इन्द्रिय से शीत–उष्णता आदि स्पर्श का ज्ञान होता है। यही ज्ञानेन्द्रियों का काम है।

इसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं–वाक्, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ। वाक् कर्मेन्द्रिय से बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है। हाथ से किसी वस्तु के आदान अर्थात् ग्रहण और प्रदान अर्थात् देने की क्रिया सम्पन्न होती है। पैर से गमनागमन सम्भव होता है। पायु से मलमूत्र विसर्जन की क्रिया होती है। उपस्थ जननेन्द्रिय का नाम है। इससे संतानोत्पत्ति की क्रिया सम्भव हो पाती है। यही कर्मेन्द्रियों का कार्य है। आगे मन की चर्चा में उसके विभिन्न प्रकारों का विवरण इस प्रकार है –

मन

> उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
> गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।। 27।।

कारिकार्थ : एकादश इन्द्रियों में मन उभयात्मक है। यह संकल्प करनेवाला होता है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से साधर्म्य के कारण इसको इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियों की अनेकता बाह्य जगत् के विषयों के समान है एवं सत्वादि गुणों के विविध रूप में परिणत होने के कारण है।

व्याख्या : इस कारिका में मन के विषय में बताया गया है। मन उभयात्मक होता है। इसका तात्पर्य है कि मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ काम करता है। मन के कारण से ही चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और वाकादि कर्मेन्द्रियाँ अपना अपना कार्य सम्पादित कर पाती हैं। मन ही इनको अपने कार्य सम्पादन के लिए प्रवृत्त करता है। मन के बिना इन्द्रियाँ अपना–अपना कार्य सम्पादित नहीं कर पाती हैं, अतः यह उभयात्मक है – उभयात्मकमत्र मनः।

मन का लक्षण है – संकल्प करना। अर्थात् मन इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयों के विषय में संकल्प करता है। संकल्प से तात्पर्य है – यह अच्छा है, यह बुरा है, यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है, इत्यादि विविध प्रकार से इन्द्रियगम्य विषयों पर चिन्तन–मनन करना। मन यही काम करता है। इस प्रकार मन इन्द्रियों से प्राप्त विषयों पर विविध प्रकार से चिन्तन– मनन करता है। अतः मन संकल्पात्मक है – संकल्पकं मनः।

एकादश इन्द्रियों में मन को स्वीकार करने में क्या हेतु है? इस विषय में सांख्याचार्यों का मानना है कि ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से साधर्म्य के कारण ही मन को भी इन्द्रिय माना जाता है। मन और इन्द्रियों में साधर्म्य कैसे है? मन और इन्द्रियों का उपादान कारण एक ही है। अर्थात् मन और इन्द्रियाँ दोनों ही अहंकार के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होते हैं। अतः मन को इन्द्रिय मानने में कोई दोष नहीं है – इन्द्रियं साधर्म्यात्।

एक ही अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है? इस विषय में पूर्व कारिका में बताया जा चुका है कि से दो प्रकार की सृष्टि होती है – एकादश इन्द्रियों की और पंच तन्मात्राओं की। इनमें एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति का उपादान कारण अहंकार का वैकृत सत्त्वांश है और पंच तन्मात्राओं का उपादान कारण अहंकार का तामस अंश है। यद्यपि एकादश इन्द्रियों का उपादान कारण एक है तथापि सहकारी कारण के गुण एवं परिणाम में भेद होने के कारण एक ही उपादान कारण से भिन्न–भिन्न स्वरूप वाली एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। संसार में भी देखा जाता है कि एक ही मूल पदार्थ के साथ भिन्न–भिन्न गुण और परिणाम वाले सहकारी पदार्थ के संयोग से अनेक पदार्थ का निर्माण होता है। अतः कारिका में कहा गया है – गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च।

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम्।।28।।

कारिकार्थ : रूप आदि विषयों के समक्ष आने पर उनका प्रकाशन मात्र कर देना पंच ज्ञानेनिद्रयों का व्यापार है। वचन, आदान, विचरण, त्याग और आनन्द पंच कर्मेन्द्रियों का व्यापार है।

व्याख्या : इस कारिका में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियो के व्यापार का प्रतिपादन किया गया है। कारिकागत वृत्ति पद का अर्थ है – व्यापार और आलोचन का अर्थ है – प्रकाशन। इस प्रकार अपने समक्ष आये रूपादि विषयों का प्रकाशन करना ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार है। जब रूपादि विषय ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष में आते हैं तब सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रियाँ रूपादि विषयों के आकार में परिणत हो जाते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों का विषय के रूप में परिणत होना ही विषयों का प्रकाशन है। इसी को ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कहते हैं। कारिका में मात्र पद के प्रयोग का अभिप्राय है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय केवल अपने ही विषय का प्रकाशन करती है। अर्थात् नेत्र केवल रूप का प्रकाशन करता है, श्रोत्र केवल शब्द का प्रकाशन करता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ अपने अपने विषय का प्रकाशन करती हैं – रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।

कर्मेन्द्रियों का व्यापार वचन, आदान, विचरण, त्याग और आनन्द है। पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं–वाक्, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ। वाक् कर्मेन्द्रिय से बोलने की क्रिया सम्पन्न होती है। हाथ से किसी वस्तु के आदान अर्थात् ग्रहण और प्रदान अर्थात् देने की क्रिया सम्पन्न होती है। पैर से गमनागमन सम्भव होता है। पायु से मलमूत्र विसर्जन की क्रिया होती है। यहां पायु पद से लिड़्ग और गुदा दोनों का ग्रहण करना चाहिए। उपस्थ जननेन्द्रिय का नाम है। इसको लिड़्ग भी कहते हैं। लिड़्ग का व्यापार भेद से पायु और उपस्थ दोनों में ग्रहण होता है। उपस्थ का व्यापार रतिक्रिया से आनन्द की प्रप्ति होने के साथ–साथ संतानोत्पत्ति की क्रिया होती है। यही कर्मेन्द्रियों का व्यापार है – वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम्।28।

करण

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्रणाद्या वायवः पंच।।29।।

कारिकार्थ : अपने अपने लक्षण के अनुसार तीनों अर्थात् बुद्धि, अहंकार और मन की जो वृत्तियाँ हैं वह उनका असामान्य व्यापार है। इन तीनों का अन्तःकरण के रूप में सम्मिलित होने पर प्राण आदि पांच वायु भी इनके सामान्य व्यापार हैं।

व्याख्या : बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों का व्यापार दो प्रकार का होता है–1 असामान्य और 2 सामान्य। असामान्य व्यापार से तात्पर्य है – इन तीनों का अपना–अपना अलग–अलग व्यापार और सामान्य व्यापार से तात्पर्य है – इन तीनों का सम्मिलित व्यापार। इन तीनों का असामान्य व्यापार इनके लक्षण के अनुरूप है। पूर्ववर्ती कारिकाओं में इन तीनों का लक्षण दिया गया है। बुद्धि का लक्षण है – अध्यवसायो बुद्धिः अर्थात् अध्यवसाय बुद्धि है। अध्यवसाय की व्याख्या पूर्व की कारिका में की जा चुकी है। प्रस्तुत कारिका के अनुसार अध्यवसाय ही बुद्धि का असामान्य व्यापार है। इसी प्रकार अहंकार का लक्षण अभिमान है – अभिमानोऽहंकारः। मन का लक्षण संकल्प है – मनः संकल्पकम्। अहंकार और मन के लक्षणों का विवेचन पूर्व कारिका में हो चुका है। प्रस्तुत कारिका के अनुसार अभिमान अहंकार का असामान्य व्यापार है और संकल्प करना मन का असामान्य व्यापार है। इस प्रकार बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों का अपना–अपना लक्षण ही इनका असामान्य व्यापार है। अतः कारिका में कहा गया है – स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।

इन तीनों का सामान्य व्यापार भी है। यहां सामान्य व्यापार से तात्पर्य है – सम्मिलित व्यापार। इन तीनों का सम्मिलित व्यापार है – प्राणादि पांच वायु। प्राणादि पांच वायु का संचार प्राणी के सम्पूर्ण शरीर में होता रहता है। ये पांच वायु हैं – प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। बुद्धि, अहंकार और मन ये तीनों एक साथ मिलकर इन पांच वायु का संचार करते हैं, अतः यह इनका सम्मिलित व्यापार है – सामान्यकरणवृत्तिः प्रणाद्या वायवः पंच।

कारिका में प्रयुक्त करण पद के विद्वान दो अर्थ करते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार कारिका में करण पद का प्रयोग बुद्धि, अहंकार और मन के लिए किया गया है। इन्हें अन्तःकरण भी कहते हैं। अन्य टीकाकारों के अनुसार करण पद का प्रयोग तीन अन्तःकरण और दस बाह्यकरण अर्थात् तेरह प्रकार के करण के लिए किया गया है।

> युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
> दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः।।30।।

कारिकार्थ : प्रत्यक्ष के विषय में चारों का अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और बाह्य इन्द्रियों का व्यापार कभी साथ–साथ तथा कभी क्रम से होता है – ऐसा सांख्याचार्यों का मानना है। अदृष्ट अर्थात् अनुमानादि के विषय में बुद्धि, अहंकार और मन की क्रिया के पहले प्रत्यक्ष की क्रिया होती है।

व्याख्या : प्रस्तुत कारिका में बुद्धि आदि करणों के व्यापार में क्रम का निरूपण किया गया है। कारिका में प्रयुक्त दृष्टे पद का अर्थ है–प्रत्यक्ष के विषय में । अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों के विषय में अन्तःकरण की प्रवृत्ति कहीं युगपत् होती है तो कहीं अलग–अलग क्रम से। युगपत् प्रवृत्ति से तात्पर्य है कि सभी अन्तःकरण एक साथ क्रियाशील हो जाते हैं। करणों की युगपत् प्रवृत्ति को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। अन्धेरी रात में अचानक बिजली के चमकने पर पैर के नीचे सर्प को देखकर व्यक्ति चिल्लाते हुए कूद कर या दौड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चला जाता है। यहां एक साथ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार और मन का

व्यापार होता है। ज्ञानेन्द्रिय से सर्प का ज्ञान हुआ। कर्मेन्द्रिय से कूदने या भागने की क्रिया हुई। मन ने चिन्तन–मनन किया। अहंकार ने अभिमान कर स्वीकार किया कि यह खतरा है। बुद्धि ने निश्चय किया कि भागा जाए। यहां सारी क्रियाएं एक साथ हुई। इसी को सांख्य दर्शन में करण का युगपत् व्यापार कहा गया है – युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः।

इसी प्रकार करणों का क्रमिक व्यापार भी होता है। दूरदर्शन से किसान को पता चला कि कल वर्षा होगी। सर्वप्रथम श्रात्रेन्द्रिय का व्यापार हुआ। फिर किसान ने अहंकार से इसको अवसर समझा। मन के द्वरा चिन्तन–मनन किया कि किस खेत बीज बोया जाए और बुद्धि के द्वारा निश्चय किया कि अमुक खेत में बीज बोना है। इस प्रकार यहां क्रम से करणों का व्यापार हो रहा है। इसीलिए कारिका में कहा गया है – वृत्तिः क्रमशश्च तस्य।

विषय के परोक्ष होने पर ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का व्यापार नहीं होता है। इनका व्यापार सम्भव ही नहीं है। अतः ऐसे अवसर पर मन, अहंकार और बुद्धि का व्यापार होता है। कारिका में अदृष्ट पद का अर्थ है – सांख्य सम्मत अनुमान तथा शब्द प्रमाण। अदृष्ट के विषय में करणों का व्यापार प्रत्यक्ष के समान ही होता है अर्थात् कभी युगपत् तो कभी क्रमपूर्वक – अदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः।

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्।।31।।

कारिकार्थ : एक दूसरे की क्रिया का अनुमान करके ही (ये चारों) अपनी अपनी क्रिया का सम्पादन करते हैं। पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि ही इनके व्यापार का हेतु है। इनके अलावा अन्य कोई कारण नहीं है जो इनको कार्य में लगाए।

व्याख्या : बुद्धि, अहंकार और मन को अन्तःकरण कहा गया है और ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय को बाह्यकरण कहा गया है। ये त्रयोदश करण क्रियाशील कैसे होते हैं ? इस विषय में सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है कि ये करण एक दूसरे की क्रिया का अनुमान कर क्रियाशील होते हैं।

इस सिद्धान्त को एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। युद्धभूमि में विद्यमान सैनिक एक–दूसरे के अभिप्राय को समझकर क्रियाशील हो जाते हैं। सभी सैनिकों को अलग–अलग निर्देश नहीं दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार से त्रयोदश अन्तःकरण एक–दूसरे से संकेत पाकर अपनी–अपनी क्रिया का सम्पादन करते हैं। जब एक करण क्रियाशील होता है, तब उसको क्रियाशील देखकर दूसरे करण भी क्रियाशील हो जाते हैं। दरवाजे पर खटखट की आवाज होने पर श्रोत्रेन्द्रियाँ क्रियाशील होती है। मन चिन्तन–मनन करता है कि कोई आया है। पैर दरवाजा खोलने के लिए चल पड़ता है। इसी प्रकार यहां अन्य करण भी क्रियाशली हो जाते है। अतः कहा गया है – स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।

करणों की प्रवृत्ति क्यों होती है? करण स्वयं में जड़ हैं। ये स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि ही इनको प्रवृत्त करती है। ये पुरुषार्थ ही अनागत रूप से अवस्थित होकर इन्हें अपनी–अपनी क्रियाओं में प्रवृत्त करती है। इनकी प्रवृत्ति का हेतु पुरुषार्थ के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता है। इसप्रकार पुरुषार्थ सिद्धि इनको प्रवृत्त करता

है और ये पुरुषार्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होते हैं – पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ।31 ।

करण–भेद

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ।।32 ।।

कारिकार्थ : करण तेरह प्रकार के होते हैं जो बाह्य विषयों का आहरण, धारण और प्रकाशन करते हैं। इनके आहरण, धारण और प्रकाशन रूप कार्य दस प्रकार के होते हैं।

व्याख्या : करण की कुल संख्या तेरह है – पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहंकार और मन। इन त्रयोदश करणों का तीन व्यापार है – आहरण, धारण और प्रकाशन। आहरण का अर्थ है– लाना, प्राप्त करना। कर्मेन्द्रियाँ वस्तुओं को उपलब्ध कराने का कार्य करती है। आहरण कर्मेन्द्रियों का व्यापार है। कर्मेन्द्रियों के द्वारा ही वस्तु उपलब्ध होती है। धारण बुद्धि, अहंकार और मन का व्यापार है। बुद्धि, अहंकार और मन अपनी–अपनी अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प से प्रणादि के द्वारा शरीर को धारण करते हैं। प्रकाशन ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार है। बाह्य वस्तु के सन्निकर्ष में आने पर ज्ञानेन्द्रियाँ उनका प्रकाशन करती है। आचार्य गौड़पाद के अनुसार आहरण और धारण कर्मेन्द्रियों का व्यापार है। प्रकाशन ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार है। वे यहां अन्तःकरण के व्यापार के विषय में कुछ नहीं कहते हैं। माठरवृत्ति में आहरण को ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन का व्यापार कहा गया है। धारण अहंकार का व्यापार है। प्रकाशन बुद्धि का व्यापार है। इसप्रकार करण तीन प्रकार का व्यापार करते हैं– करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

करण द्वारा सम्पादित त्रिविध व्यापार दस प्रकार के होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पांच विषयों का का प्रकाशन किया जाता है। वे पांच विषय हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा इनका प्रकाशन किया जाता है। कर्मेन्द्रियों के द्वारा भी पांच व्यापार सम्पादित किये जाते हैं – वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द। मन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापार में ही सहभागी होता है। अहंकार कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेद्रियों से गृहीत इन्हीं विषयों को धारण करने का व्यापार करता है। बुद्धि इन्हीं विषयों का प्रकाशन करती है। इस प्रकार त्रयोदश करणों के द्वारा दस प्रकार के व्यापार सम्पादित होते हैं –

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।।
साम्प्रत्कालं बाह्यं त्रिकालमारभ्यन्तरं करणम् ।।33 ।।

कारिकार्थ : अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है। दस बाह्य करण हैं जो अन्तःकरण के विषय का प्रकाशन करती हैं। बाह्य करण वर्तमानकालिक होते हैं। अन्तःकरण त्रयकालिक अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में प्रवृत्त होने वाला होता है।

व्याख्या : पूर्ववर्ती कारिकाओं में जिन तेरह करणों की चर्चा की गई है, वे दो प्रकार के होते हैं – अन्तःकरण और बाह्यकरण। बुद्धि, अहंकार और मन अन्तःकरण के अन्तर्गत आते हैं जबकि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ को मिलाकर दस बाह्यकरण होते हैं। दस बाह्यकरणें के द्वारा अन्तःकरण के विषयों का प्रकाशन होता

है। अर्थात् अन्तःकरण विषयी है और बाह्यकरण विषय। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अन्तःकरण को बाह्य विषयों की सूचना दी जाती है। कर्मेन्द्रियाँ अन्तःकरण के निर्णय के अनुरूप कार्य करती हैं और बाह्य विषयों को उसके अनुरूप उपलब्ध या अनुपलब्ध कराती है। इस प्रकार बाह्य करण अन्तःकरण का साधक होता है। वह अन्तःकरण के लिए ही क्रियाशील होता है। अतः कारिका में कहा गया है—अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्। यहां विषयाख्यम् का अर्थ है—विषयों का प्रकाशन करना।

बाह्यकरणों की प्रवृत्ति वर्तमान काल में होती है। जब ज्ञानेन्द्रियों के समक्ष विषय उपस्थित होता है तभी वह क्रियाशील होकर उनका प्रकाशन करती हैं। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी समक्ष उपस्थित विषय के प्रति ही क्रियाशील होती हैं। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की गति भूत या भविष्यत् काल में नहीं होती है। इसके विपरीत अन्तःकरण की गति त्रिकालव्यापी होती है। अन्तःकरण वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल तीनों में क्रियाशील होता है। प्रातः घर के चारों तरफ जल देखकर रात्रि में वर्षा हुई थी, यह भूतकालिक ज्ञान अन्तःकरण के द्वार ही होता है। आकाश में बादल को देखकर बारिश होगी यह भविष्यत् कालिक ज्ञान भी अन्तःकरण से होता है। इसी प्रकार भविष्यत् कालिक क्रिया भी अन्तःकरण की होती है। इसीलिए कारिका में कहा गया है — साम्प्रत्कालं बाह्यं त्रिकालमारभ्यन्तरं करणम्।33।

> बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि।
> वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पंचविषयाणि।। 34।।

कारिकार्थ : उनमें से पांच को बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय कही जाती हैं। उनका विषय विशेष और अविशेष दोनों होते हैं। पंच कर्मेन्द्रियों मे से वाक् इन्द्रिय का विषय शब्दमात्र है और शेष चार कर्मेन्द्रियों के शब्दादि पांचों विषय हैं।

व्याख्या : पांच ज्ञानेन्द्रियों का विषय विशेष और अविशेष होता है। यहां विशेष से तात्पर्य है — स्थूल पदार्थ। इसके अन्तर्गत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का ग्रहण होता है। अविशेष का अभिप्राय शब्दादि पंच तन्मात्राएं है जो सूक्ष्म होती हैं। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों का विषय विशेष और अविशेष दोनों है, इसमें दोनों के ग्रहण का सामर्थ्य है परन्तु सामान्य मनुष्य केवल विशेष को ही जान पाता है, अविशेष को सिद्ध योगी ही जान पाते हैं। अविशेष की सूक्ष्मता और सामान्य मनुष्य के मन की मलिनता अविशेष की प्रतीति में बाधक बन जाते हैं।

पांच कर्मेन्द्रियों में से वाक् का विषय शब्द है। यहां शब्द से शब्द—तन्मात्रा के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहां इससे ध्वन्यात्मक शब्द गृहीत करना चाहिए। वाक् का एकमात्र विषय शब्द है। वाक् के अतिरिक्त अन्य चार कर्मेन्द्रियों का विषय शब्द सहित स्पर्श, रूप, रस और गन्ध है। इसका तात्पर्य है कि स्पर्श, रूप, रस और गन्ध वाक् को छोड़ कर अन्य चार कर्मेन्द्रियों के विषय एक साथ बन सकते हैं। उदाहरणस्वरूप हाथ से हम जिस घड़े को पकड़ते है, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सदा विद्यमान रहता है। इसीलिए कारिका में कहा गया है — वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पंचविषयाणि।34।

> सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
> तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ।।35।।

कारिकार्थ : क्योंकि अन्तःकरणों अर्थात् मन एवं अहंकार के साथ मिलकर ही बुद्धि सभी प्रकार के विषयों का अवगाहन करती है इसलिए ये तीनों करण द्वारि अर्थात् कक्ष के समान प्रधान हैं और शेष दसों इन्द्रियाँ द्वार के समान गौण हैं।।35।।

व्याख्या : अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि, अहंकार एवं मन की गति समस्त विषयों तक होती है। वस्तुतः ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ समस्त बाह्य विषयों को अन्तःकरण तक सम्प्रेषित करने का कार्य करती हैं। अतः सांख्यदर्शन स्वीकार करता है कि अन्तःकरण में समस्त विषयों के अवगाहन का सामर्थ्य है। मुख्य रूप से बुद्धि इन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं का उपयोग पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि के लिए करती है। अतः कारिका में कहा गया है—सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।

इस कारिका में त्रिविध अन्तःकरण को द्वारि और दस बाह्यकरण को द्वार कहा गया है। यहां द्वारि का अर्थ है – कक्ष और द्वार का अर्थ है – प्रवेश द्वार। अर्थात् जिसप्रकार से प्रवेश द्वार के माध्यम से कमरे में भोग के लिए सामग्री का संग्रह किया जाता है। ठीक उसी प्रकार से बाह्यकरणों के द्वारा सांख्य सम्मत पुरुष के भोग के लिए अन्तःकरण में विषयों का संग्रह किया जाता है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि बाह्यकरण की अपेक्षा अन्तः करण की प्रधानता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि त्रिविध अन्तःकरण रूप गृह के बाह्यकरण रूप दस द्वार हैं – तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि।35।

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।।36।।

कारिकार्थ : ये ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन और अहंकार प्रदीप के समान हैं और परस्पर विलक्षण अर्थात् विरोधी गुण विशेष वाले हैं तथापि पुरुष के निखिल विषयों का प्रकाशन कर उन्हें बुद्धि में समर्पित कर देते हैं।

व्याख्या : यहां दस इन्द्रियाँ, मन और अहंकार को परस्पर विलक्षण गुणवाला कहा गया है। गुण से तात्पर्य है – सत्त्व, तमो और रजो गुण। ये तीनों गुण परस्पर विरोधी हैं फिर भी एक साथ रहते हैं। यही इनकी विशेषता है। इन गुणों का परस्पर विरोध इनके अन्तः और बाह्य करण रूप विकारों में भी विद्यमान रहता है। गुणों में विरोध और एक साथ रहना यह विरोधाभास है। सांख्यकारिकाकार ने इसका निराकरण प्रदीप के दृष्टान्त से दिया है। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरोधी होते हुए भी एक साथ रहकर अंधकार का अपनय करते है, उसी प्रकार परस्पर विरोधी अन्तःकरण और बाह्यकरण साथ रहकर पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए विषयों को बुद्धि में प्रकाशित करते हैं। बुद्धि में ही समस्त विषयों का प्रकाशन होता है। इससे त्रयोदश अन्तःकरणों में बुद्धि की प्रधानता सिद्ध होती है।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्।।37।।

कारिकार्थ : पुरुष के सभी प्रकार के भोगों को बुद्धि ही उपस्थित करती है। इसलिए वही प्रधान अर्थात् प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म अन्तर को प्रकट कर देती है।

व्याख्या : त्रयोदश अन्तःकरणों में बुद्धि ही पुरुष के समस्त भोगों की सामग्री उपलब्ध कराती है। यह पहले बताया जा चुका है कि इन्द्रियों के द्वारा समस्त विषयों का प्रकाशन बुद्धि में ही किया जाता है। वस्तुतः सुख–दुःख की अनुभूति बुद्धि में होती है,

यह अनुभूति ही भोग है। बुद्धि से पुरुष को विषयों का भोग स्वतः हो जाता है। इसीलिए कारिका में कहा गया है कि बुद्धि पुरुष के सभी उपभोग सामग्री को सिद्ध करती है – सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।

पुरुष के लिए उपभोग सामग्री उपलब्ध कराने के कारण ही बुद्धि प्रधान है। वह ही समस्त आभ्यन्तर और बाह्य करणों में श्रेष्ठ है। बुद्धि की एक और विशेषता है। वह पुरुष और प्रकृति के भेद को भी प्रकट कर देती है। बुद्धि ही भोगोपलब्धि के बाद पुरुष में प्रकृति और पुरुष के सर्वथा भिन्न होने का विवेक करा देती है। अर्थात् बुद्धि के सौजन्य से पुरुष को विवेक हो जाता है कि मैं भिन्न हूँ। यह सारा भोग सामग्री और जगत् प्रकृति का विकार मात्र है। माठरवृत्ति के अनुसार पुरुष को भोगोपरान्त विवेक होता है। इसप्रकार बुद्धि प्रकृति एवं पुरुष में सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है – सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्।

तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ।।38।।

कारिकार्थ : पंचतन्मात्राएं अविशेष हैं इन्हीं पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये विशेष हैं क्योंकि शान्त, घोर और मूढ हैं।

व्याख्या : कारिका 34 में विशेष और अविशेष को ज्ञानेन्द्रियों का विषय बताया गया है। सांख्यदर्शन में स्थूल पदार्थ अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को विशेष बताया गया है। शब्दादि पंच तन्मात्राएं अविशेष हैं। सूक्ष्म होने के कारण सामान्य मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से अविशेष का ज्ञान नहीं कर पाता है। इसका ज्ञान तो योगी ही कर पाते हैं। इन्हीं पंच तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और गन्ध पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती हैं अर्थात् शब्द तन्मात्रा से आकाश, शब्द एवं स्पर्श से वायु, शब्द, स्पर्श एवं रूप से अग्नि, शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस से जल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से पृथ्वी तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है – तन्मात्राण्यविशेषाः तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः।

पंच महाभूत विशेष होते हैं। ये महाभूत अनुभवयोग्य, सुख, दुख और मोह देने वाले होते हैं, इसलिए ये विशेष हैं। ये शान्त, घोर और मूढ भी होते हैं। सत्त्व प्रधान होने पर ये सुखात्मक अर्थात् शान्त होते हैं। रजोगुण के प्रधान होने पर ये घोर और तमोगुण के प्रधान होने पर मूढ होते हैं–एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च घोर से तात्पर्य है–दुःख देनेवाला एवं अस्थिर और मूढ का अर्थ है – भारी एवं विषण्ण।

लिङ्ग शरीर

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते।।39।।

कारिकार्थ : सूक्ष्म और माता–पिता से उत्पन्न शरीर के साथ महाभूतों को मिलाकर तीन प्रकार के विशेष होते हैं। इनमें सूक्ष्म नियत होते हैं और माता–पिता से उत्पन्न शरीर ही उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं।

व्याख्या : सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के क्रम में तीन विशेष वस्तुओं की सृष्टि होती है–सूक्ष्म शरीर, माता–पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर और पंच महाभूत। इनमें सूक्ष्म शरीर प्रकृति से उत्पन्न 18 तत्त्वों के मेल से बनता है। ये 18 तत्त्व हैं – महत्तत्त्व, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और पांच तन्मात्राएं। यह सूक्ष्म शरीर

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के अन्दर ही विद्यमान रहता है। यह सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय तक विद्यमान रहता है। यह नित्य होता है। इसी को सांख्यदर्शन में लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्मशरीर कहा गया है। माता–पिता के रज और वीर्य से उत्पन्न शरीर को स्थूल शरीर कहते हैं। यह शरीर उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है – मातापितृजा निवर्तन्ते।

महाभूत के लिए कारिका में प्रभूत पद का प्रयोग किया गया है। महाभूतों का विवेचन पूर्व कारिका में किया जा चुका है। यहां महाभूतों को भी विशेष कहा गया है क्योंकि ये सुख, दुःख और मोह देने वाले होते हैं।

> पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
> संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्।।40।।

कारिकार्थ : सूक्ष्म शरीर पहले से ही उत्पन्न होते हैं। यह असक्त अर्थात् कहीं रुकने वाला नहीं होता है। यह नियत होता है। यह महदादि से लेकर सूक्ष्मभूत पंच तन्मात्राओं पर्यन्त होता है। यह निरुपभोग अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं करता है। यह धर्मादि आठ भावों की वासना से युक्त होता ह। यह तीनों लोकों में विचरण करता है।

व्याख्या : प्रस्तुत कारिका में कारिका 39 में वर्णित लिङ्ग शरीर की विशेषताओं का प्रतिपादन किया गया है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

पूर्वोत्पन्नम् : यह लिङ्गशरीर अनादि काल से उत्पन्न है। सांख्यदर्शन के अनुसार महाप्रलय के अनन्तर जब प्रथम बार सृष्टि होती है, तब लिङ्शरीर उत्पन्न होता है। तब से महाप्रलय तक यह विद्यमान रहता है।

असक्तम् : इसकी सर्वत्र गति है। यह सभी स्थलों पर जा सकता है। यह आकाश में उड़ सकता है। पत्थर में प्रवेश कर सकता है। यह लोक–लोकान्तर जा सकता है। इसकी गति कही रुकती नहीं है। अतः यह असक्त है।

नियतम् : यह आदि सर्ग अर्थात् प्रथम सृष्टि से लेकर अन्तिम सृष्टि तक विद्यमान रहता है। इसलिए यह नियत है।

महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् : यह सूक्ष्मशरीर महत् अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच कर्मेन्द्रियाँ और सूक्ष्मभूत पंच महाभूतों का समुदाय है।

निरुपभोगम् : यह साक्षात् विषयों का भोग नहीं करता है।

भावैरधिवासितम् : यहां भाव पद से तात्पर्य है – धर्म–अधर्म, ज्ञान–अज्ञान, विराग–राग और ऐश्वर्य और अनैश्वर्य। ये वस्तुतः बुद्धि के धर्म हैं। लिङ्गशरीर बुद्धि आदि का समुदाय है, अतः यह भी धर्मादि भावों की वासना से युक्त होता है।

संसरति : लिङ्शरीर लोक–परलोक में संचरण करने में समर्थ होता है। ये सभी लिङ्गशरीर की विशेषताएं हैं।

> चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
> तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्।।41।।

कारिकार्थ : जैसे कोई चित्र बिना आधार के नहीं बन सकता है। जैसे वृक्षादि के बिना छाया नहीं हो सकती है, उसी प्रकार विशेष अर्थात् लिङ्गशरीर के बिना आश्रयरहित बुद्धि आदि करण नहीं रह सकते हैं।

व्याख्या : पूर्व की कारिकाओं में जिस लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) का वर्णन किया गया है, उसकी गणना सांख्य के 25 तत्त्वों में नहीं है। उसको बुद्धि आदि का समुदाय कहा गया है। ऐसे में लिङ्ग शरीर को मानने की क्या आवश्यकता है। क्यों न मान ले कि बुद्धि ही सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त विधमान रहती है। प्रकृत कारिका में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। जिस प्रकार से फलक के बिना चित्र का निर्माण नहीं हो सकता है और वृक्ष के बिना छाया की कल्पना नहीं की जी सकती है ठीक उसी प्रकार से बुद्धि आदि की सत्ता की सिद्धि के लिए लिङ्गशरीर को मानना आवश्यक है। बुद्धि आदि का आश्रय यह लिङ्गशरीर ही है। यदि यह कहा जाए कि स्थूलशरीर को आश्रय मान लेना चाहिए तो स्थूल शरीर नश्वर है। उसकी मृत्यु के बाद बुद्धि आदि का आश्रय क्या होगा। बुद्धि आदि का आश्रय वही हो सकता है जो सृष्टि से प्रलय पर्यन्त विद्यमान रहे। अतः सांख्यदर्शन इसके लिए लिङ्गशरीर को स्वीकार करता है। कारिका में प्रयुक्त लिङ्ग पद का अर्थ बुद्धि आदि त्रयोदश करण है, लिङ्गशरीर नहीं। विशेष पद लिङ्गशरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तकप्रसंगेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्।।42।।

कारिकार्थ : यह पुरुष के प्रयोजन के लिए ही होता है। निमित्त और नैमित्तिक के प्रसंग सेयह प्रकृति के जगत् कर्तृत्व की शक्ति से अभिनेता के समान रहता है।

व्याख्या : पुरुष के भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही लिङ्गपुरुष की प्रवृत्ति होती है। इसीके लिए वह स्थूल शरीर धारण करता है। वह नाटक के नट के समान अनेक रूप धारण करता है। वह मनुष्य, शूकर, कूकर, कीट, पतंग आादि विविध रूपों को धारण करता है। वह विविध योनियों में भ्रमण करता है और तत्तद् शरीरों को अपना मानता है।

सूक्ष्म शरीर बुद्धि के धर्मादि आठ भावों के फलाफल रूप विविध शरीर और योनियों को प्राप्त करता है। कारिका में इसीलिए कहा गया है – निमित्तनैमित्तकप्रसंगेन। अर्थात् जैसा उसका धर्मादि होता है वैसा शरीर वह धारण करता है। स्थूलशरीर से निकलने के बाद सूक्ष्मशरीर की विलक्षण क्रियाएं होती हैं। वह उर्ध्व और अधोगमन करता है और विविध लोकों का विचरण करता है। ये समस्त शक्तियाँ उसको प्रकृति से मिलती हैं – प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्।

21.3 सारांश

सांख्यदर्शन का सृष्टिक्रम का निरुपण अत्यन्त वैज्ञानिक है। यह प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि के सृजन की सिद्धान्त को स्थापित करता है और अत्यन्त ताक्रिक रीति से अपने सिद्धान्त की स्थापना में सफल भी होता है। प्रकृति का गुणत्रय से समन्वित होना ही सांख्य की समस्त अवधारणाओं की सिद्धि का हेतु बनता है। प्रकृति से 23 तत्त्वों की सृष्टि होती है। सर्वप्रथम प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसीको बुद्धि कहते हैं। इससे अहंकार का जन्म होता है। अहंकार से पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों, मन और पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। इनमें से पांच तन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की

जन्म होता है। इस प्रकार प्रकृति से 23 तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इन सबका समुदाय स्थूल शरीर होता है। इसी स्थूल शरीर को को हम धारण करते हैं। यह नश्वर होता है। इस स्थूल शरीर के अन्तर्गत लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर होता है जो सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त विद्यमान रहता है। यही धर्माधर्मादि के फलस्वरूप विविध योनियों का विधान करता है।

21.4 शब्दावली

महत्तत्व : प्रकृति का प्रथम विकार। इसी को सांख्यदर्शन में बुद्धि गया है। अध्यवसाय इसका लक्षण है।

अहंकार : अहंकार बुद्धि का विकार हैं अथात् इसकी उत्पत्ति बुद्धि से होती है। इससे पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय मन और पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पंच ज्ञानेन्द्रिय नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, त्वक और जिह्वा को पंच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। इन्हीं से सांसारिक विषयों का ज्ञान होता है।

पंचकर्मेन्द्रिय : मुख, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ को पांच कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इनसे सांसारिक क्रियाएं सम्पन्न होती है।

पंचतन्मात्रा : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को पंच तन्मात्रा कहते हैं। ये ही ज्ञानेन्द्रियों के विषय बनते हैं।

पंचमहाभूत : आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को पंच महाभूत कहते हैं।

मन : मन की गणना इन्द्रियों में होती है। यह चिन्तन–मनन का काम करता है।

त्रयोदश करण : बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रिय को सम्मिलित रूप में त्रयोदश करण कहते हैं।

स्थूल शरीर : माता–पिता से उत्पन्न शरीर को स्थूल शरीर कहते हैं। यही शरीर जन्म–मृत्यु के द्वारा विविध योनियों में भ्रमण करता है।

सूक्ष्म शरीर : इसी को लिङ्गशरीर भी कहते हैं । यह शरीर सृष्टि के आदि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त विद्यमान रहता है। इसमें विलक्षण सामर्थ्य होता है। यह शिला में प्रवेश कर सकता है, लोक–परलोक गमन कर सकता है।

21.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सांख्यकारिका– व्रजमोहन चतुर्वेदी
2. सांख्यतत्त्वकौमुदी– हरदत्त शर्मा
3. सांख्यसंग्रह– विन्ध्येश्वरी प्रसाद
4. सांख्य दर्शन का इतिहास– उदयवीर शास्त्री
5. .भारतीय दर्शन– चन्द्रधर शर्मा

21.6 अभ्यास प्रश्न

1. ज्ञानेन्द्रियों का क्या कार्य है?

2. कर्मेन्द्रियों का क्या कार्य है?
3. मन कैसे काम करता है?
4. अहंकार से उत्पन्न होने वाले तत्त्वों का नाम लिखिए।
5. तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति का क्रम लिखिए।
6. वैकृत सत्त्व क्या है?
7. त्रयोदश करण के तीन कार्य कौन–कौन से हैं?
8. त्रयोदश करणों के युगपत् और क्रमिक व्यापार को समझाइये।
9. सूक्ष्म शरीर की विशेषताएं लिखिए।
10. बुद्धि के आठ रूपों का विवेचन कीजिए।
11. सांख्यदर्शन में लिङ्गशरीर स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है?

इकाई 22 प्रत्ययसर्ग

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत शिक्षार्थी :

- प्रत्यय सर्ग की संकल्पना का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- प्रत्यय सर्ग की व्यत्पत्ति, परिभाषा एवं अभिधेय के बारे में जान सकेंगे।
- बुद्धि से संबद्ध परिणामों की जानकारी प्राप्त करेंगे; तथा
- प्रत्यय सर्ग के संदर्भ में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और अष्टसिद्धि के बारे में भी बोध प्राप्त करेंगे।

22.1 प्रस्तावना

संस्कृत भाषा में प्रत्यय का अर्थ होता है ज्ञान। जिससे प्रतीति अर्थात् ज्ञान हो, उसे प्रत्यय या बुद्धि कहते हैं, उसका सर्ग प्रत्यय सर्ग है। सांख्यदर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय प्रत्यय सर्ग है। इसकी आवश्यकता स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यय सर्ग के बिना तन्मात्र सर्ग न तो भोगरुप पुरुषार्थ का साधन हो सकता है, और न उसका स्वरुप ही सिद्ध हो सकता है।

सामान्यतया ज्ञान का साधन बुद्धि को स्वीकार किया जाता है, अतएव प्रत्यय का अर्थ बुद्धि भी है। सांख्य दर्शन में भी प्रत्यय सर्ग के सन्दर्भ में प्रत्यय शब्द का प्रयोग बुद्धि के लिये ही हुआ है। अतः प्रत्यय सर्ग का अर्थ हुआ बौद्धिक सृष्टि अर्थात् "प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धि तस्य सर्गः"।

प्रत्यय सर्ग विषयक चिन्तन सांख्य दर्शन की एक मौलिक अवधारणा है। यद्यपि बुद्धि के विषय में अन्य दर्शनों में भी कुछ न कुछ अवश्य उपलब्ध होता है किन्तु सर्ग अर्थात् सृष्टि की परम्परा में प्रत्यय सर्ग का विवेचन सांख्य में ही स्पष्टतः उपलब्ध होता है। इस विषय में सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने प्रत्यय सर्ग अर्थात् बौद्धिक परिणामों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि निश्चय करने वाला तत्व बुद्धि है। धर्म, ज्ञान ,वैराग्य और ऐश्वर्य ये बुद्धि के सात्विक परिणाम है और इनसे विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये बुद्धि के तामस रुप है –

अध्यवसायोबुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद् रुपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।।

अध्यवसाय पद की व्याख्या करते हुए सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पतिमिश्र जी लिखते हैं – यह लोक प्रसिद्ध है कि प्रत्येक व्यवहार या कार्य करने वाला व्यक्ति पहले व्यवहार या कार्य का इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करके मन के द्वारा उस पर संकल्प विकल्पात्मक विचार करके मैं इस कार्य को करने का अधिकारी हूं ऐसा अभिमान करने के बाद में मुझे यह करना चाहिये यह निश्चय करता है और फिर उस कार्य में प्रवृत्त होता है। इसमें चित्स्वरुप पुरुष के संनिधान से चैतन्य प्राप्त करने वाली बुद्धि को जो करना चाहिए यह निश्चय है वही, अध्यवसाय है जो कि बुद्धि का अपना असाधारण व्यवहार या कार्य है।

बुद्धि के इस लक्षण के बाद कारिकाकार ने उसके परिणाम अर्थात् सर्ग की चर्चा की है और मूलतः उस प्रत्यय सर्ग को दो प्रकार का स्वीकार किया है – सात्विक प्रत्यय सर्ग एवं तामसिक प्रत्यय सर्ग। अर्थात् विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि रुप बुद्धि के परिणामों से हुए इस प्रत्यय के 50 प्रकार है।

22.2 प्रत्ययसर्ग कारिका (46–52)

"एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धयाख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्"।।

व्याख्या : धर्म, अधर्म, ज्ञान–अज्ञान, वैराग्य–अवैराग्य, तथा ऐश्वर्य–अनैश्वर्य रुप यह प्रत्यय सर्ग चार प्रकार का है जिसे विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि इन नामों से कहा जाता है और सत्त्व रज, तम इन तीन गुणों का जो न्युनाधिक्यरुप वैषम्य तथा उससे होने वाला जो एक या दो गुणों का अभिभव और उस अभिभव के कारण विस्तार में पचास भेद हो जाते है। इन पर क्रमवार चर्चा इस प्रकार हैः

1. **विपर्यय** : सांसारिक विषयों का जिससे ज्ञान होता है, वह हुआ प्रत्यय अर्थात् बुद्धि एवं उसका जो सर्ग है वह चार प्रकार का है। उसमें प्रथम जो विपर्यय है वह अज्ञान अर्थात् अविद्या रुप है, वह भी बुद्धि में रहने के कारण बुद्धि का धर्म है । यह तमोगुण समुत्पन्न परिणाम है।

   विपर्यय शब्द का अर्थ विपरीत होता है। अज्ञान ज्ञान का अत्यन्ताभाव नहीं है अपितु वह भी ज्ञान ही की तरह पर ज्ञान से भिन्न एक भावात्मक तत्त्व है। अज्ञान में पर्युदास नञ् का प्रयोग है जो "तद्भिन्नतत्सदृश" का बोध कराता है। भगवान् पतंजलि ने भी कहा है ज्ञान से भिन्न रुप में प्रतिष्ठित मित्थ्या ज्ञान को ही विपर्यय कहते हैं। वेदान्त में इसे अविद्या कहा है जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नामक भेदों से पांच प्रकार की होती है। विष्णुपुराण में इन्हीं को पंचपर्वा अविद्या के नाम से कहा गया है। यह अविद्या बुद्धि का धर्म है जो उस पर तमोगुण के प्रभाव का परिणाम है? अतः विपर्यय अज्ञान ही है।

2. **अशक्ति** भी त्रयोदश करणों के वैकल्य अपटुता के कारण बुद्धिधर्म ही हैं। एकादश– इन्द्रियाँ, बुद्धि और अहंकार अपने अपने व्यापारों के त्रयोदश करण हैं। करणवैकल्यहेतुका – इसका अर्थ यह है कि ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विकल हो जाने पर वे अपने अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पायेंगी। इन्द्रियों के वैकल्य

रुप दोषों के कारण फिर मन, अहंकार, बुद्धि आदि इनमें भी वह दोष परम्परा फैल जाएगी, अर्थात् मन, अहंकार आदि भी अपने अपने व्यापारों को करने में सर्वथा सर्वथा असमर्थ हो जायेंगे। कारण जब इन्द्रियाँ ही अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पायेंगी तो विषयों के अभाव में मन, अहंकार आदि का व्यापार भी नहीं होगा इसलिये शक्ति विहीन होने के कारण अशक्ति है। अशक्ति ज्ञान की प्राप्ति के असामर्थ्य को कहते हैं।

3. **तुष्टि** : सिद्धि भी जो कि वक्ष्यमाण लक्षण हैं, बुद्धिधर्म ही हैं। उन विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तीनों में ज्ञान को छोड़कर सातों धर्माधर्म आदि का अन्तर्भाव है और अष्टम बुद्धिधर्म ज्ञान का सिद्धि में अन्तर्भाव है। प्रकृति से भिन्न पुरुष तत्त्व है, इस बात को जानकर भी श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उसके विवेकरुपी साक्षात्कार के लिए किसी असत् उपदेश के कारण प्रवृत्त न होना ही तुष्टि का लक्षण है।

> "पञ्च विपर्ययभेदाभवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
> अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः"।।47।।

व्याख्या : पांच विपर्यय के भेद हैं और त्रयोदशविध करणों के वैकल्य से 28 प्रकार हैं, 9 प्रकार की तुष्टि, और 8 प्रकार की सिद्धि है। इस प्रकार 50 भेद हो जाते हैं। तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र विपर्यय के ये पांच भेद होते हैं। अन्तः और बाह्य करणों की विकलता से होने वाली अशक्ति अठ्ठाइस प्रकार की होती है। इसी प्रकार तुष्टि के नौ तथा सिद्धि के आठ भेद होते है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश ही क्रम से तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, हैं इन्हें योगशास्त्र में पंचक्लेश कहा गया है। वहीं पर योगभाष्यकार ने इन्हें स्पष्ट रुप से विपर्यय कहा है।

विशेष

पंच : अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, इन पांच नाम वाले पांच विपर्यय अज्ञान विशेष हैं। क्योंकि विपर्यय से उत्पन्न हुए अस्मिता आदि भी विपर्यय स्वभाव वाले होते हैं।

अविद्या : अनित्य को नित्य समझना, अशुचि को शुचि समझना, दुख को सुख समझना अनात्मा को आत्मा समझना। यह अन्धकार की तरह आत्मज्ञान की आवरक होने से "तम" शब्द से कही जाती है। अनित्य में नित्यता, अपवित्र में पवित्रता, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मा का बोध ही अविद्या है।

अस्मिता : बुद्धि और पुरुष दोनों एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, फिर भी दोनों को अभिन्न समझ लेना अज्ञान एवं यह क्लेश रुप है। बुद्धि और पुरुष को मोहित करने के कारण इसे मोह शब्द से कहा जाता है। द्रष्टा पुरुष और दर्शन शक्ति बुद्धि का अभिन्न रुप में प्रतीत होना अस्मिता है।

राग : अनात्मधर्म सुख की तृष्णा है। इसी को महामोह कहते हैं। क्योंकि समस्त वस्तुओं में मोह की पराकाष्ठा कराने का साधन यही राग है। सुख का अनुभव करने के बाद उसके या उसकी प्राप्ति के साधन के प्रति तृष्णा ही राग है।

द्वेष : अनात्मधर्म दुःख के त्याग की ईच्छा। क्रूर तामस धर्म होने के कारण इसे तामिस्र कहते हैं।

अभिनिवेश : अनात्मधर्म मरण का आत्मा के विषय में भय है। विद्वान, मूर्ख, पशु आदि सभी को अन्धे की तरह अज्ञान पैदा कराने वाला तामस धर्म होने के कारण उसे अन्धतामिस्र कहते हैं।

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः" ।।48।।

व्याख्या : तम का अष्टविध भेद है और अष्टविध भेद मोह का भी है। महामोह दस प्रकार का है, तामिस्र अट्ठारह प्रकार का है तथा अन्धतामिस्र भी अट्ठारह प्रकार का है। इस प्रकार सभी मिलाकर 62 अवान्तर भेद हो जाते हैं।

तम : तम अविद्या का अष्टविध भेद है, अर्थात् अविद्या आठ प्रकार की है। अव्यक्त – प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा इन अनात्मभूत – आत्मा से भिन्न आठ पदार्थों में आत्मबुद्धि, यहीं अविद्या यानी तम है। यह अविद्या रुप तम अव्यक्त, महतत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं का विषय बनता है। इस कारण यह अविद्या रुप तम आठ प्रकार का है।

मोह : मोह के भी अष्टविध भेद चकार के सम्बन्ध से जान लेने चाहिए। देवता लोग अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त करके अपने अमृतत्त्व – अमरत्त्व का अभिमान करते हुए अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य को हमेशा के लिए अपना मान बैठते हैं। इस प्रकार यह अस्मितारुप मोह अष्टविध ऐश्वर्य विषय वाला होने से आठ प्रकार का है।

महामोह : दस प्रकार का है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध, ये शब्दादि पांच विषय दिव्य अदिव्य भेद से दसविध हो जाते हैं और ये रागोत्पादक हैं। अतः इन रागोत्पादक दशविध विषयों में राग अर्थात् आशक्ति हो जाना ही महामोह है। इस महामोह के दिव्य अदिव्य भेद से शब्दादि दस विषय हैं, अतः यह दशविध विषय वाला होने के कारण दश प्रकार का है।

तमिस्र : तामिस्र द्वेषरुप है और वह अठारह प्रकार का है। शब्दादि विषय जो कि स्वरुपतः रागोत्पादक हैं, वे दिव्य अदिव्य भेद से दस प्रकार के हैं, और आठ अणिमादि ऐश्वर्य हैं, अतः अठारह हो जाते हैं। किन्तु ये अणिमादि स्वरुपतः रागोत्पादक नहीं हैं, बल्कि रागोत्पादक जो शब्दादि हैं, उनके उपाय – साधनभूत हैं; और ये शब्द, स्पर्श, आदि विषय भोग्यरुप से उपस्थित होकर परस्पर में एक दूसरे से उपहन्यमान हो जाते हैं। इस कारण इनके उपायभूत अणिमादि स्वरुप से ही शत्रुवत क्रोध के विषय बन जाते है। इस प्रकार दिव्य अदिव्य भेद से दशविध शब्दादि के साथ अष्टविध अणिमादि मिलकर अठारह हो जाते हैं। और इनका विषय अर्थात् इनमे होने वाला द्वेष तामिस्र है, तथा वह पूर्वोक्त अठारह प्रकार के विषय वाला होने से अठारह प्रकार का है।

अन्धतामिस्र : अन्धतामिस्र भी तथाविध ही है, अर्थात् अठारह प्रकार का है। अन्धतामिस्र नाम अभिनिवेश का है। देवता आदि लोग अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त करके शब्दादि दश विषयों का भोग करते हुए डरते रहते हैं कि हमारे भोग्य विषय जो शब्द, स्पर्श आदि हैं तथा उनके साधनभूत उपाय जो अणिमादि है, उन्हें असुर लोग नष्ट न कर दे, यही भय अभिनिवेश तथा अन्धतामिस्र कहलाता है। यह भय – अभिनिवेश – अन्धतामिस्र अष्टादश विषय वाला होने के कारण अठारह प्रकार का है इस प्रकार यह विपर्यय या अविद्या पांच विकल्प – प्रकार वाला होता हुआ अवान्तर भेद से 62 प्रकार का हो जाता है।

विशेष : अष्टविध ऐश्वर्य की सात्विकता का ज्ञान भी अष्टविधविषयक ही होता है। अमृतत्व से रहित रहने पर भी ये देवता अमृतत्त्व का अभिमान करते है। अर्थात् अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्य को पाकर "वयम् अमृताः स्मः" ऐसा अभिमान करने लगते हैं। समझते हैं कि हमें प्राप्त हुआ यह अणिमादि ऐश्वर्य नित्य है, अर्थात् अविनाशी है, मृत्यु लोक में रहने वाले योगियों तक का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है।

इस प्रकार अशाश्वतिक ऐश्वर्य में भी सात्विकता का अभिमान "अतद्वति तत्प्रकारकज्ञान" होने से अस्मिता अर्थात् मोह की विपर्यय विशेषता स्पष्ट हो जाती है।

इन्द्रियवध

"एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययातुष्टिसिद्धीनाम्"।।

व्याख्या : एकादश इन्द्रियाँ है अतः उनके वध – इन्द्रियविनाशकारणीभूत दोष भी एकादश ही हैं। एवं नव प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धि के विपर्यय से बुद्धि के सत्रह वध हैं। इस प्रकार बुद्धि वध के साथ मिलकर एकादश इन्द्रियवध 28 प्रकार के हो जाते हैं, वही 28 भेद वाली अशक्ति उद्दिष्ट है।

यहां यह प्रश्न होता है कि अन्धत्व, बधिरत्व आदि वक्ष्यमाण इन्द्रियवध इन्द्रियधर्म हैं और अशक्ति को पूर्व में बुद्धिधर्म बतलाया जा चुका है। तब फिर एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा इस कथन से अशक्ति के अन्दर इन्द्रियवध को क्यों समाविष्ट किया गया है? इसका उत्तर है कि कारिका में जो इन्द्रियवध का ग्रहण है, वह इस बात का सूचक है कि इन्द्रियवध बुद्धि का हेतु है।इस कारण इन्द्रियवध का ग्रहण है न कि अशक्ति के 28 प्रकार के भेदों के पूरणार्थ इन्द्रियवध का ग्रहण है।

विशेष : इन्दियाँ ग्यारह हैं जो ज्ञान के निमित्त हैं। इनमें दोष उत्पन्न होने पर इनकी सहायता से काम करने वाली बुद्धि भी अशक्त हो जाती है और पुरुष को अभिलिषित अर्थ का समर्पण नहीं कर पाती। यद्यपि इन्द्रियों में उत्पन्न दोष अशक्ति का कारण है जिसे बुद्धि की सृष्टि माना जाता है तथापि हेतु और हेतुमान् में अभेद के सिद्धन्त को स्वीकार करते हुए "बधाः अशक्तिः" की सामानाधिकरण्य की उक्ति से इन्द्रियों के दोषों को भे यहां अशक्ति के रुप में परिगणित किया गया है।

एकादशेन्द्रियवधाः –

पांच ज्ञानेन्द्रियों के वध इस प्रकार बतलाए गये है।

1. बाधिर्य – बधिरता
2. कुष्ठिता – कुष्ठरोग
3. अन्धत्व – अन्धा हो जाना, चक्षु का नष्ट हो जाना
4. जड़ता – रसनाशक्ति का अभाव अर्थात् खाए हुए पदार्थों के स्वाद का ज्ञान न होना
5. अजिघ्रता – घ्राणशक्ति का अभाव हो जाना ये तो पांच ज्ञानेन्द्रियों के वध बतलाए गये है।

पांच कर्मेन्द्रियवध इस प्रकार हैं –

1. मूकता– वाक्शक्ति का अभाव हो जाना

2. कौण्य– हाथ रुप शक्ति का अभाव हो जाना
3. पंगुत्व– पादशक्ति का अभाव अर्थात् चलना फिरना एकदम से बन्द हो जाना
4. क्लैब्य– नपुंसकत्व
5. उदावर्त– शौचनिःसरणरोधक रोग,

ये पांच कर्मेन्द्रिय वध हैं। मन रुप इन्द्रियवध है। मन्दता अर्थात संकल्पशक्ति का अभाव हो जाना यानी सुखादिविषयक ज्ञान संपादन में मन्द हो जाना ये 11 यथासंख्य श्रोत्रादि इन्द्रियवध हैं। इन एकादश इन्द्रियों के वधात्मक दोषों के कारण एकादश संख्या वाली ही बुद्धि की वधदोषात्मिका अशक्ति अपने व्यापार – अध्यवसाय में स्वीकार की गयी है। इस प्रकार एकादश इन्द्रियवध दोषों से उतपन्न होने के कारण बुद्धि की अशक्ति एकादशधा – 11 प्रकार की कही जाती है।

हेतु यहां एकादश इन्द्रियवध है और हेतुमान् है बुद्धिवध रुपी अशक्ति, इन दोनों का सामानाधिकरण्य अभेदरुप कथन कारण और कार्य में अभेद विवक्षा से ही है।

तुष्टिः

"आध्यात्मिकयश्चतस्रः प्रकृतुपादानकालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नवतुष्टयोऽभिमताः"।।50।।

व्याख्या : प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में अध्यवसायात्मिक जो सन्तोष वृत्तियाँ होती हैं उन्हें आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) कहते हैं। प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य ये है आख्याय (नाम) जिनकी ऐसी आध्यात्मिक तुष्टि रुप वृत्तियाँ चार हैं । जैसे –

प्रकृति – प्रकृतिः मोक्षदा इति सन्तोषः।

उपादान – उपादानमेव मोक्षदम् इति सन्तोषः।

काल – कालः समये प्राप्ते सत्येव मोक्षः इति सन्तोषः।

भाग्य – भाग्यं भाग्यादेव मोक्षः इति सन्तोषः।

इस प्रकार प्रकृति आदि संज्ञा वाली ये चार आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) तुष्टियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध संज्ञक पांच विषयों के उपरम (वैराग्य) से बाह्य तुष्टियाँ पांच है। इस रीति से आध्यात्मिक चार और बाह्य पांच मिलकर नौ तुष्टियाँ सांख्याचार्यों को अभिमत हैं।

विशेष : प्रकृति आदि जडवर्ग से अतिरिक्त आत्मा है। यह सद्गुरु के उपदेश से साधारणतया जानकर जो पुरुष जानने के बाद भी इस आत्मा का श्रवण मननादि के द्वारा प्रकृति, पुरुष के भेदज्ञानद्वारक साक्षात्कार के लिए अर्थात् विवेकज्ञान के लिये मिथ्यावादी व्यक्ति के मिथ्यावाद से सन्तुष्ट होकर प्रयत्न नहीं करता है, उस असत् उपदेश – मिथ्यावाद से सन्तुष्ट व्यक्ति की ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ होती हैं। जिस कारण से वे तुष्टियाँ आत्मा को अधिकृत करके अर्थात् आत्मा के उद्देश्य से होती है, इसलिये उन्हें आध्यात्मिक तुष्टियाँ कहते हैं।

प्रकृति : प्रकृति नाम वाली तुष्टि इस प्रकार है कि किसी व्यक्ति के यह कथन या कथनात्मक उपदेश करने पर कि विवेकसाक्षात्कार प्रकृति का ही परिणाम भेद – परिणाम विशेष है और उसे प्रकृति ही करती है, कारण कि साक्षात्कार बुद्धि का धर्म है और बुद्धि प्रकृति का परिणाम विशेष है इसलिए गुरू शिष्य को कहते हैं – हे वत्स!

तुम्हारा यह ध्यान तथा अभ्यास सब व्यर्थ है; श्रवण मनन भी सब बेकार है। इस प्रकार के उपदेश से उपदेष्टव्य शिष्य को प्रकृति में होने वाली जो तुष्टि – सन्तुष्टि – सन्तोष होता है उसे प्रकृति नामक तुष्टि कहते हैं, इसका दूसरा नाम अम्भ है। जैसे अम्भ – जल डुबो देने वाला होता है, वैसे ही प्रकृति भी संसार सागर में डुबो देने वाली है।

उपादन : विवेकज्ञान प्रकृति का परिणाम विशेष होता हुआ भी वह विवेकज्ञान प्रकृति मात्र से उत्पन्न नहीं होता, कारण कि प्रकृति सबके लिए समान योग वाली होने के कारण सबको सर्वदा विवेक ज्ञान होने लग जाएगा, परन्तु होता नहीं है, वह प्रव्रज्या – संन्यास से होता है, इसलिए हे आयुष्मान! इस संन्यास का उपादान – ग्रहण करो, इस ध्यानाभ्यास से क्या फायदा? अर्थात् यह सब व्यर्थ है। इस उपदेश से होने वाला जो सन्तोष, उपादानाख्या तुष्टि ही सन्तोष है। इसका दूसरा नाम सलिल है।

काल : संन्यास भी शीघ्र ही विवेक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्रदान करने वाला नहीं है। वह संन्यास भी कुछ काल परिपाक की अपेक्षा करके ही हे वत्स! तुम्हें विवेकज्ञानरुपा सिद्धि प्रदान कर सकेगा। इसलिए तुम्हारा उत्तम होना सर्वथा व्यर्थ है। इस उपदेश से काल की प्रतीक्षा में जो सन्तोष होता है वह कालनाम्नी तुष्टि कहलाती है, क्योंकि जिस प्रकार उपयुक्त समय पर हुई वृष्टि के योग से पृथ्वी फलवती होती है उसी प्रकार प्रत्येक सिद्धि समय आने पर ही प्राप्त होती है असमय में नहीं। इसी का दूसरा नाम ओघ है।

भाग्य : विवेकख्याति न तो प्रकृति से, न काल और न उपादान से ही होती है, अपितु भाग्य से ही होती है। अतएव मदालसा के पुत्र अत्यन्त ही बाल होते हुए भी माता के उपदेश मात्र से विवेकख्याति प्राप्त कर मुक्त हो गये। इस कारण से हे वत्स! भाग्य ही सबके प्रति हेतु है अन्य नहीं। भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्, इस उपदेश से सन्तोष हो जाना भाग्य नामक तुष्टि है इसे वृष्टि भी कहते हैं। जो अकस्मात् ही विवेकज्ञान की वर्षा करे, वही भाग्य कही जाती है।

बाह्यतुष्टि : बाह्य तुष्टियाँ शब्द, स्पर्श आदि विषयों में वैराग्य हो जाने से पांच प्रकार की हैं। अनात्मभूत प्रकृति, महत्, अहंकार आदि को आत्मा मानने वाले पुरुष को शब्दादि बाह्य विषयों में वैराग्य हो जाने पर जो तुष्टियाँ होती हैं, वे बाह्य तुष्टियाँ हैं, क्योंकि आत्मज्ञान न होने पर अनात्म जड़वर्ग को आत्मा मानकर होने वाली प्रवृत्ति से बाह्य तुष्टियाँ ही होती हैं। पांच बाह्य तुष्टियाँ वैराग्य हो जाने के पश्चात् होती हैं वैराग्य के हेतु पांच शब्द स्पर्शादि विषय हैं, अतः वैराग्य भी पांच है और वैराग्य के पांच होने से तुष्टियाँ भी पांच हैं।

उपरम : जिसके द्वारा विषयोपभोग से निवृत्ति होती है, वही उपरम – वैराग्य है। विषयों से उपरम होना यह विषयोपरम कहलाता है। विषय शब्दादि पांच है जो कि भोग्य हैं, इसलिए उपरम भी पांच हैं। अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग तथा हिंसा इन पांच दोषों के दर्शन के कारण उपरम भी पांच होते हैं। अर्जन, रक्षण आदि पांच दोषों को दिखलाते हैं कि – सेवा आदि जो धनोपार्जन के उपाय है वे सेवक आदि को दुःखी करते हैं। कृषि व्यापार करना आदि जो धनोपार्जन के उपाय है, वे भी सब दुःख देने वाले ही हैं। इस प्रकार से सर्वंदुःखमयंजगत् ऐसी विचारधारा के आधार पर विषयों से वैराग्य होने पर जो मन को सन्तोष होता है वह पार नामक तुष्टि है, क्योंकि वह तुष्टि वैराग्य द्वारा संसार से पार करने वाली है।

सुपार : अर्जित धन से राजा, एकागारिक – चोर से, अग्नि से एवं जल की बाढ़ आदि से कदाचित नष्ट न हो जाए, इस प्रकार की लगातार चिन्ता से उस धन के संरक्षण में होने वाला जो महान दुःख होता है, उस दुःखानुभूतिजन्य विषयोपरम होने पर जो तुष्टि मिलती है वह सुपार नामक दूसरी तुष्टि कही जाती है वैराग्य द्वारा सुखपूर्वक संसार के पार करने में कारण है, अतः इसे सुपार कहते हैं।

पारापार : उसी प्रकार महान् प्रयास से उपार्जित धन भोग करने पर नष्ट हो जाएगा, इस प्रकार उस धनक्षय की भावना करने वाले व्यक्ति को विषयोपरम होने पर होने वाली जो तुष्टि है, वह तीसरी तुष्टि पारापार नामक तुष्टि कही जाती है। धनक्षय की भावना होने पर भी यदि धनोपार्जन में प्रवृत्ति बनी रही तो व्यक्ति दुःखसागर से पार हो जाएगा और यदि प्रवृत्ति नहीं रही तो वह उसी दुःखसागर में पड़ा हुआ गोते लगाता रहेगा, पार न हो पाएगा। इसलिए यह पारापार नामक तुष्टि कही जाती है।

अनुत्तमाम्भ : इसी प्रकार शब्दादि विषयों के भोगाभ्यास से कामनाएं बढती चली जाती है और विषयों की प्राप्ति न होने पर कामना वाले पुरुष उन कामनाओं से दुःखी होते हैं। इस प्रकार से विषयोपभोगों में दोषों की भावना करने वाले व्यक्ति को विषयोपरम होने पर जो तुष्टि होती है, वह चतुर्थ तुष्टि, अनुत्तमाम्भ तुष्टि कहलाती है।

उत्तमाम्भतुष्टि : प्राणियों की हिंसा किए बिना मांस की प्राप्ति नहीं होगी, और मांस भक्षण के बिना शरीर सबल नहीं होगा, बिना शरीर – प्राबल्य के विषयोपभोग संभव नहीं है, और हिंसा बहुत ही अनर्थकारी है। इस प्रकार हिंसा दोष दर्शन से विषयोपरम होने पर जो तुष्टि, वह पांचवी तुष्टि उत्तमाम्भ कही जाती है।

इस प्रकार चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ और पांच बाह्य तुष्टियाँ; कुल नव तुष्टियाँ सांख्याचार्यों को सर्वथा अभिमत हैं।

सिद्धियाँः

"ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽङ्कशस्त्रिविधः"।।51।।

व्याख्या : प्रस्तुत कारिका में गौण और मुख्य भेदों के साथ सिद्धियों को बतलाते हैं। ऊह, शब्द, अध्ययन इन तीन प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक, एवं आधिभौतिक दुःख का विनाश, सुहृत्प्राप्ति और दान, ये आठ सिद्धियाँ हैं। सिद्धि के पूर्व में जो विपर्यय, अशक्ति तथा तुष्टि ये तीन हैं, ये तीनों प्रतिबन्धक – विरोधी हैं। उह आदि सिद्धियों का तात्पर्य बहुत कुछ अस्पष्ट हो गया है। इस विषय में इतना ही ज्ञान है कि सिद्धि के तीन विरोधी हैं – विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि। यह भी ज्ञात है कि मनुष्य प्राणी में सिद्धि प्रधानतया व्यवस्थित है। इसका लक्षण है – यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः। यह अभीष्ट सिद्ध करना आठ प्रकार का है, यह कारिकाकार कहते हैं इन सिद्धयों की जो व्याख्या वाचस्पति आदि ने की है, वह व्याख्या बहुत कुछ काल्पनिक प्रतीत होती है। इनके समय इन भेदों की प्राचीन व्याख्या लुप्त हो गयी थी – ऐसा ज्ञात होता है।

ग्रन्थकार अप्रधान तथा प्रधान भेदों के साथ आठ प्रकार की सिद्धियाँ कहते हैं। विनष्ट किये जाते हुए दुःख के त्रिविध होने के कारण त्रिविध दुःख के विनाश भी तीन होते हैं, ये तीन सिद्धियाँ मुख्य हैं। इनके उपायभूत होने के कारण अन्य पांच सिद्धियाँ गौण हैं। ये पांच भी करण और कार्य के रुप में व्यवस्थित है। इन आठ सिद्धियों में प्रथम अध्ययन नामक सिद्धि केवल कारण है। दुःखविघातरुप तीन मुख्य सिद्धियाँ केवल कार्य

हैं और मध्यपठित शब्द आदि सिद्धियाँ हेतु और हेतुमान दोनों हैं। शास्त्रविधिपूर्वक गुरुमुख से अध्यात्मविद्या के अक्षरों का ज्ञान अध्ययन नामक प्रथम सिद्धि है, जो तार कहलाती है। तार अर्थात संसारतरण हेतु। अगली कार्य शब्द नामक सिद्धि है। कारिकास्थ शब्द पद शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान का उपलक्षण है। शब्दजनित ज्ञानरुपकार्य में कारण रुप शब्द का उपचार कर के ऐसा कहा गया है। यह दूसरी सिद्धि है जो सुतार कहलाती है। इस प्रकार अक्षरानुपर्वीग्रहण तथा अर्थज्ञान रुप दो प्रकार का श्रवण सिद्ध हुआ। ऊह का अर्थ तर्क अर्थात् शास्त्र के अविरोधी युक्ति से शास्त्रोक्त अर्थों को परीक्षा। परीक्षा का अर्थ है – संशय और पूर्वपक्ष के निराकरण द्वारा उत्तर–पक्ष की स्थापना। इसे ही आगमवादी मनन कहते हैं। यह तीसरी सिद्धि तारतार कहली है। जो मनन स्वयं ही किया गया है वह असम्यक् मनन् है, क्योंकि वह सुहृतों द्वारा अनुमत नहीं हुआ है, इसलिए द्वितीय मनन अर्थात् अन्य प्रकार का मनन सुहृत्प्राप्तित्र कहते हैं। साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षित सिद्धान्तों में तब तक कोई स्थिरनिश्चय नहीं कर पाता जब तक गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों से एकवाक्यता नहीं होती, अतः सुहृदों – एकमतावलम्बी गुरुशिष्य – सतीर्थों की प्राप्ति सुहृत्प्राप्ति है। यही चौथी सिद्धि रम्यक कहलाती है। इन आठ सिद्धियों का वर्णन निम्नलिखित है –

ऊह : विनष्ट हुये दुःख के तीन प्रकार के होने के कारण उसकी निवृत्तियाँ भी तीन प्रकार की हैं और ये दुःखविघात रुपा तीनों सिद्धियाँ मुख्य हैं। इन दुःखविघातरुप तीन सिद्धियों के उपायभूत होने से इतर पांच सिद्धियाँ गौण हैं और वे पांच सिद्धियाँ भी हेतु तथा हेतुमान होने से अर्थात् कारण कार्य उभयरुप से व्यवस्थित है।

उन आठ सिद्धियों में प्रथम अर्थात् दुःख विघात के पूर्व जो अध्ययन नामक सिद्धि है , वह कारण ही होती है और दुःखविघातरुप जो तीन मुख्य सिद्धियाँ हैं वे हेतुमान – कार्य ही होती हैं। मध्यम – मध्य पठित शब्दादि सिद्धियाँ हेतु और हेतुमान कार्य यानी दोनों होती हैं।

अध्ययनसिद्धि विवेचन : समिधा हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास शिष्य अध्ययन के लिये जाए। इस शास्त्रीय विधि के कथनानुसार गुरुमुख से अध्यात्मविद्याप्रतिपादक जो अक्षरों के स्वरुप का अर्थात् शब्दरुप अक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ, स्वरित, स्वरविशेषात्मक स्वरुप का ग्रहण – ज्ञान प्राप्त करना ही वस्तुतः अध्ययनसिद्धि नामक प्रथमा सिद्धि है, जिसे तार कहते हैं। तार का अर्थ है – पार, अर्थात् इस संसार सागर से पार करने वाली सिद्धि का ही दूसरा नाम तार है। क्योंकि ज्ञानप्लव से ही पार हुआ जा सकता है।

शब्दसिद्धि : अध्ययन का कार्य शब्दसिद्धि है। 'शब्द' यह पद शब्दजनित अर्थज्ञान का सूचक है, क्योंकि अर्थज्ञानरुप कार्य को शब्दात्मक कारण लक्षणावृत्ति से बतलाता है। यह द्वितीया सिद्धि है, इसे सुतार भी कहते हैं क्योंकि यह सरलता से सुखपूर्वक तार देती है अर्थात् संसार सागर से पार कर देती है।

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन्भावनिवृत्तिः।
लिन्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विधः प्रवर्तते सर्गः।।52।।

व्याख्या : धर्म, अधर्म, ज्ञान–अज्ञान, वैराग्य–अवैराग्य तथा ऐश्वर्य–अनैश्वर्य, इन आठ भावों के बिना सूक्ष्मशरीर उत्पन्न नहीं हो सकता है, और तन्मात्राओं से समुत्पन्न सूक्ष्मशरीर के बिना धर्माधर्म आदि भावों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः प्रत्येक के

बिना दोनों का स्वरुप सर्वथा असम्भव है, इसलिए लिंगाख्य एवं भावाख्य दोनों प्रकार की सृष्टि आवश्यक है।

विशेष : तन्मात्र सर्ग के बिना प्रत्यय सर्ग की न तो भोगात्मक पुरुषार्थ साधनता ही बन सकती है, और न स्वरुपोत्पत्ति ही हो सकती है। इसलिए एक दूसरे के बिना न तो एक दूसरे के स्वरूप की सिद्धि हो सकती है और न पुरुषार्थ साधनता निषपन्न होती है। अतः तन्मात्र सर्ग – लिंगाख्य सृष्टि तथा प्रत्यय सर्ग – भावाख्य सर्ग दोनों नितान्त आवश्यक हैं। इसका कारण है कि उभयविध सृष्टि के बिना भोग कदपि संभव नहीं है। वही वाचस्पति मिश्र ने कहा है – भोगः पुरुषार्थो न इत्यादि। अर्थात् भोगात्मक पुरुषार्थ भोग्य जो शब्दादि विषय तथा भोगायतन जो शरीरद्वय है, उनके बिना कदापि संभव नहीं है। अतः तन्मात्र सर्ग सर्वथा उपपन्न – उपपत्तिसिद्ध है। अर्थात् जो भोग भोग्य शब्दादि विषय हैं उनके बिना संभव नहीं हैं, वहीं भोग भोगसाधन इन्द्रियों के बिना संभव नहीं है, तथा भोग साधन अन्तःकरणों के बिना भी संभव नहीं है। और वे भोगसाधन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण धर्माधर्म आदि भावों के बिना संभव नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सुखदुःख भोग का साधन होने से धर्माऽधर्म कारण सापेक्ष हैं। इसलिए उभयविध पूर्वोक्त सर्ग सर्वथा आवश्यक है। कैवल्यरुप जो पुरुषार्थ, उसकी कारणीभूत जो विवेकख्याति – विवेकज्ञान, वह उभयसर्ग से अर्थात् प्रत्ययसर्ग तथा तन्मात्रसर्ग रुप उभयविध सर्ग के बिना कदापि उपपन्न – उपपत्तिसिद्ध नहीं हो सकता है। अतः उभयविध सर्ग सर्वथा उपपन्न है।

22.3 प्रत्ययसर्ग के विशेष संदर्भ

आत्मज्ञान या विवेकसाक्षात्कार मोक्ष का कारण है। आत्मज्ञान के लिए जड़ेतर ज्ञान की आवश्यकता है। सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। इसके अनुसार सृष्टि का मूल कारण प्रकृति है और प्रकृति की ही परिणामपरम्परा से इस विश्व की सृष्टि हुई है। प्रकृति से लेकर पञ्चमहाभूतों तक जो विचारधारा चलती है, उसको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। ज्ञानवृत्ति या बुद्धिवृत्ति जिसके विकास को Intellectual creation कहा जाता है और पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत जिसके विकास को Physical creation कहा जाता है।

मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि और उसका विकास अहंकार एवं अहंकार से उत्पन्न एकादश इन्द्रियाँ इतने बुद्धिसर्ग के अंग है। बुद्धि का धर्म है निश्चय करना। इस बुद्धि के सात्विक अंश से धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य की उत्पत्ति होती है। धर्म के दो भेद हैं – अभ्युदयसाधक एवं निःश्रेयससाधक। ज्ञान ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्यज्ञान–शिक्षा, कल्पादिसम्बन्धी एवं अभ्यन्तर ज्ञान–प्रकृति पुरुष विवेक। वैराग्य–दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णा को कहते हैं। यह भी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार भेद से चतुर्विध है। ऐश्वर्य में – अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायित्त्व है। धर्मादिक चार निमित्तों के फल – उर्ध्वगमन, प्रकृतिलय, आविर्भाव, अपवर्ग ये क्रम से चार नैमित्तिक हैं। अधर्मादि में इसका विपर्यय है।

"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मोज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तमसमस्माद् विपर्यस्तम्"।।

उपर्युक्त धर्माधर्मादि आठ भावों का संक्षेप से चार भागों में वर्गीकरण दिया गया है–

"एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्"।।

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि ये चार बुद्धि के संक्षिप्त परिणाम हैं। विपर्यय में अज्ञान आता है जबकि अशक्ति में अनैश्वर्य, अवैराग्य एवं अधर्म्। तुष्टि में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य और सिद्धि में ज्ञान का अन्तर्भाव होता है। ये विपर्ययादि बुद्धि के ही परिणाम हैं। सत्व, रजस एवं तमस के कारण इनमें मोक्ष के प्रति बाधकत्त्व एवं साधकत्व होता है। गुणों की विषमता से उत्पन्न उपमर्द अर्थात् एक एक या दो दो न्यून बल वालों के अभिभव से पचास भेद हो जाते हैं। वे निम्न प्रकार हैं –

"पञ्च विपर्ययभेदाभवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः"।।

विपर्यय के पांच भेद करणों के दोष के कारण, अशक्ति के अट्ठाईस भेद, तुष्टि के नव भेद और सिद्धि के आठ भेद होते हैं।

विपर्यय के पांच भेदों का सूक्ष्मतम भेद

विपर्यय के तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्ररुप जिनको शास्त्रान्तर में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेष कहते है, उनके निम्नलिखित सूक्ष्मभेद ये हैं–

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः"।।

तम : अविद्या के आठ प्रकार हैं। आत्मभिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्राओं में आत्मभावना अविद्या या तमस् है।

मोह : मोह भी आठ प्रकार का है। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के लाभ से अपने को अजर अमर मानना।

महामोह : दिव्यादि भेद से दस प्रकार के शब्दादि विषयों में उपादेय बुद्धि होने के कारण राग होना ही महामोह है।

तामिस्र : अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य शब्दादि 10 विषयों में से किसी के उपर यदि अप्रीति हो गयी हो तो उसके प्रति द्वेष अथवा दूसरों द्वारा उपभुज्यमान पदार्थों को देखकर द्वेष होना ही तामिस्र है।

अन्धतामिस्र : तामिस्र के 18 विषयों को प्राप्त करने का प्रबल आग्रह तथा प्राप्त करके भोग के समय उनके विनाश का भय अन्धतामिस्र है। इस प्रकार यह 5 प्रकार का विपर्यय सूक्ष्म भेदों के कारण् 62 प्रकार क है।

अशक्ति के 28 भेद

"एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययातुष्टिसिद्धीनाम्"।।

अशक्ति के अट्ठाइस भेद हैं। 11 इन्द्रियवध – बहरापन, कुष्ठ, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूंगापन, हाथ का टूटा होना, लंगडापन, नपुंसकत्व, गुदादोष तथा मनःस्तब्धता है। बुद्धि के भावों में जो 9 तुष्टि और अष्ट सिद्धियाँ होती

हैं उनका अभाव तथा अभिभव, कुल मिलाकर, इस तरह से ये 28 अशक्तियाँ हैं। सांख्यशास्त्र के अनुसार भावों में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य में जितनी भी उन्नतावस्था हो, ये कोई मोक्ष के साधन नहीं है। इसी प्रकार हम आगे देखेंगे कि तुष्टि मोक्ष की साधिका नहीं है। किन्तु अशक्ति में भावों की अकर्मण्यता से जो असामर्थ्य दोष दिखाई पड़ता है वह तुष्टि में नहीं है। तुष्टि मोक्ष का साधन नहीं है और किसी भाव या धर्म के अभाव की सूचक भी नही है। इस अशक्ति में 9 तुष्टियाँ– जो कि प्रकृतितुष्टि, कालतुष्टि, उपादानतुष्टि, भाग्यतुष्टि, तथा शब्दोपरमा, स्पर्शोपरमा, रुपोपरमा, रसोपरमा, गन्धोपरमा आदि है – उनके अभाव पाये जाते हैं। अतः इन तुष्टियों के अभाव से प्रकृत्यातुष्टिकालातुष्टि, उपादानातुष्टि, भाग्यातुष्टि, शब्दोपरमातुष्टि, स्पर्शोपरमातुष्टि इत्यादि होती हैं। इसी तरह से ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक दुःखानभिघात, सुह्रदाप्राप्ति तथा दान भी अदान में परिणत होकर – अभाव की सूचना देती हैं।

तुष्टि के 9 भेद

"आध्यात्मिकयश्चतस्रः प्रकृतुपादानकालभागाख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नवतुष्टयोऽभिमताः"।।

आभ्यन्तर और बाह्य भेद से 9 तुष्टियाँ वर्णित हैं।

1. **प्रकृतितुष्टि** : यद्यपि प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान से ही मुक्ति होती है यह सिद्धान्त है तथापि किसी अल्पज्ञ गुरु द्वारा इस उपदेश से कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का कार्य है अतः प्रकृति मुक्त ही कर देगी, ध्यान, समाधि की आवश्यकता नहीं है। ऐसा सन्तोष हो जाने से इसे प्रकृति तुष्टि कहते हैं।

2. **उपादानतुष्टि** : यद्यपि विवेक से तुष्टि होती है परन्तु वह प्रकृति मात्र से नहीं होती। क्योंकि यदि ऐसा हो तो प्रकृति सबके लिये समान होने से सब विवेकयुक्त होकर मुक्त हो जायेंगे, पर ऐसा सम्भव नहीं है। अतः संन्यास लेने से ही विवेक ज्ञान होता है ध्यानादि की आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादान तुष्टि है उपादानतुष्टि सलिल तुष्टि भी कहलाती है।

   उपवृद्धावस्थायाँ समीपे आदीयते गृह्यते यः।
   सन्यासाख्यो धर्मः सा एव उपादानतुष्टिः।।

3. **कालतुष्टि** : "संन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर ही विवेकज्ञान देगा, अतः उद्विग्न होने से कोई लाभ नहीं है" ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह काल नामक तुष्टि है जो ओघ भी कहलाती है।

4. **भाग्यतुष्टि** : विवेकज्ञान न प्रकृति से, न काल से, न सन्यास ग्रहण से ही होता है। इसलिये मदालसा की सन्तानें बाल्यावस्था में ही माता के उपदेश से ही विवेकज्ञानयुक्त होकर मुक्त हो गई। इसलिए भाग्य ही हेतु है अन्य कुछ नहीं–ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह भाग्य नामक तुष्टि है, जो वृष्टि भी कहलाती है।

बाह्यविषयोपरामतपञ्च : शब्दादि 5 विषयों से 5 बाह्य तुष्टियाँ प्राप्त होती हैं। इन तुष्टियों के ये ही कारण हैं शब्द, स्पर्श, रुप, रस एवं गन्ध के अर्जन में कष्ट, अर्जित हो गये के रक्षण में कष्ट, रक्षण के समय विनाश की आशंका से कष्ट, विषयोपभोग के समय भोग की अशक्ति तथा भोग अत्यधिक बढ जाने से कष्ट तथा हिंसा के बिना शब्दादि का अर्जन नहीं हो सकता इसलिए ये कष्ट कारण है। अतः जब इन क्लेशों

को सोचकर ऐसे 5 प्रकार के संतोष हो जाते हैं तो चित्त विषय से निवृत्त हो जाता है। इनके दूसरे नाम योगदर्शन में इस प्रकार हैं – अम्भ, सलिल, ओघ, सृष्टि, पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भ, उत्तमाम्भ हैं।

अष्टसिद्धि

> "ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
> दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽङकशस्त्रिविधः"।।

ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविधदुःखविनाश, सुहृत्प्राप्ति तथा दान ये आठ सिद्धियाँ हैं। अध्ययनशास्त्रविधिपूर्वक गुरुमुख से अध्यात्मविद्या के पारायण का श्रवण अध्ययन नामक प्रथम सिद्धि है। जो संसार तरण का प्रथम हेतु होने से तार कहलाती है।

शब्द : अध्ययन का कार्य शब्द है। कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान सूचित होता है। यह दूसरी सिद्धि है, जो सुखपूर्वक संसारतारक होने से सुतार कहलाती है। इस प्रकार पारायण तथा अर्थरुप से दो प्रकार का श्रवण हुआ।

ऊह : शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्तविषय की परीक्षा ऊह है और यह परीक्षा सन्दिग्ध पूर्वपक्ष के परित्याग द्वारा उत्तरपक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है। इसे ही शास्त्रज्ञ मनन कहते हैं। यह तीसरी सिद्धि अध्ययन और शब्द से अधिक तारक होने से तारतार कहलाती है। आगम के प्रतिपाद्य विषय की ऐसे न्याय से परीक्षा करना जो आगम विरोधी न हो, तर्क कहा जाता है।

सुहृत्प्राप्ति : साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किये हुए सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता जब तक की गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ संवाद नहीं कर लेता। इसलिए सुहृदों का संवाद प्राप्त होना सुहृत्प्राप्ति है। यही चौथी सिद्धि शास्त्रार्थ संवाद में रमणीय होने के कारण रम्यक् कहलाती है।

दान : ज्ञानाभ्यास से उत्पन्न शुद्धविवेकख्याति में अन्तर्भूत है। क्योंकि यहां दान पद की निष्पत्ति शोधन अर्थ वाली दैप् धातु से होने के कारण उसका अर्थ विवेकज्ञान की शुद्धि है। यह पांचवी सिद्धि सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण सदामुदित कहलाती है।

दुःखत्रयविनाश : स्वरुप तीनों मुख्य सिद्धियाँ प्रमोद, मुदित और मोदमान कहलाती है। इस प्रकार ये कुल 8 सिद्धियाँ हैं। ये सिद्धियाँ मोक्षदीपिका हैं। सिद्धि के पहले विषयादि जो तीन हैं, वे सिद्धि के लिए अन्तराय या बाधक स्वरुप हैं। अतः इनका अतिक्रमण करके तब सिद्धि प्राप्त होती है। जिस प्रकार कैवल्य प्राप्त करने के लिए प्रकृति–पुरुष विवेकख्याति और विवेकख्याति के लिये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न सभी वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक है वैसे ही सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्राथमिक दशाएं तथा उसके अन्तराय क्या होते हैं, उनका ज्ञान भी आवश्यक है, इसे ही प्रत्यय सर्ग कहते हैं।

22.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने प्रत्ययसर्ग के अंतर्गत सांख्यकारिका में दिए गए विवेचन का अध्ययन किया तथा प्रत्यय अर्थात बुद्धि के परिणामों को भी जाना। प्रत्ययसर्ग के

विभिन्न रूपों तथा सिद्धियों की कारिकाओं में प्रदत्त विवरणानुसार अवगाहन किया। विशेष चर्चा के अंतर्गत बुद्धि के परिणामों, विपर्यय के सूक्ष्म भेदों तथा अशक्ति, तुष्टि एवं अष्टसिद्धि आदि के भेदों – उपभेदों पर भी विस्तार से आपने जाना।

22.5 शब्दावली

अशक्ति – ग्यारह इन्द्रियदोष, नौ तुष्टिविपर्ययदोष तथा आठ सिद्धि विपर्ययदोष – इन सभी को मिलाकर यह अठाईस भेद वाली अशक्ति है।

ऐश्वर्य – ईश्वर अर्थात् स्वामी का भाव ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य आठ हैं।

बाह्यज्ञान – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् एवं ज्योतिष तथा वेद एवं अष्टादशपुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र बाह्यज्ञान हैं।

आभ्यन्तरज्ञान – प्रकृति तथा पुरुष का ज्ञान आभ्यन्तर है। बाह्यज्ञान से लोक में अनुराग तथा आभ्यन्तरज्ञान से मोक्ष होता है।

प्रत्ययसर्ग– जिससे प्रतीति अर्थात् ज्ञान हो, उसे प्रत्यय या बुद्धि कहते हैं, उसका सर्ग प्रत्यय सर्ग है।

विपर्यय – अज्ञान विपर्यय है। अविद्या,अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्रमशः तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, नाम से पांच विपर्यय विशेष हैं।

विराग – राग का अभाव विराग है।

दिव्य – शब्द, स्पर्श ,रुप, रस, गन्ध इनका सूक्ष्मरुप पांच तन्मात्र हैं जो योगियों के ज्ञान का विषय होने से दिव्य हैं।

अदिव्य – शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध का स्थूल रुप भौतिक है। ये सामान्य मनुष्यों के ज्ञान का विषय होने से अदिव्य हैं।

सर्ग – गुणों का प्रवृत्तिरुप कार्य सर्ग है।

सिद्धि – ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृतप्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ हैं।

शब्दसिद्धि – शब्द से अर्थज्ञान होना शब्द नामक सिद्धि है।

सुहृत्प्राप्ति – साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किये हुये शास्त्रार्थ या सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता जब तक कि गुरु, शिष्य और सहपाठियों के साथ परस्पर संवाद नहीं कर लेता। इसलिए सुहृदों अर्थात् गुरु, शिष्य तथा सहपाठियों के साथ परस्पर संवाद प्राप्त होना सुहृतप्राप्ति है।

दान – दान पद की निषपत्ति शोधन अर्थ परक दैप् धातु से होने के कारण उसका अर्थ विवेकज्ञान की शुद्धि है। सन्दिग्ध और विपरीत ज्ञान तथा उनके संस्कारों का परिहार होने पर विमल हुए चित्तप्रवाह में विवेकज्ञान की स्थिति विवेकज्ञान की शुद्धि अर्थात् दान है।

22.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदीसहित, डॉ. सगजाननशास्त्री मूसलगांवकरकृत हिन्दी अनुवादसहित, चौखम्भासंस्कृत संस्थान, सातवां संस्करण, 2000।

2. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, गौडपादभाष्यसहित, पं.श्रीज्वालाप्रसादगौडकृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, पुनर्मुद्रित, 2001।

3. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकासहित, डॉ. रमाशंकरत्रिपाठीकृत तत्त्वप्रभा संस्कृतटीका, हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी।

4. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, माठरकृतमाठरवृत्तिसहित, पं. थानेशचन्द्र उप्रेतीकृत हिन्दीव्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2001।

5. सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्रकृतसांख्यतत्त्वकौमुदी, पण्डित श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामीनारायणविरचिता सांख्यकारिका तत्त्वकौमुदीकिरणावली, श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामीनारायणकृतसांख्यकारिकाभाष्यम्, गौडपादभाष्यसहितम्, वाराणसी, व्यास प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1989।

22.8 अभ्यास प्रश्न

1. सांख्य के अनुसार सृष्टि कितने प्रकार की होती है?
2. बुद्धि के प्रमुख परिणाम कितने हैं?
3. प्रत्यय सर्ग के कुल कितने भेद हैं?
4. विपर्यय के कुल कितने भेद हैं?
5. अशक्ति के कुल कितने भेद हैं?
6. तुष्टि के नौ भेद कौन कौन से है?
7. आठ प्रकार की सिद्धियाँ कौन कौन सी हैं?
8. अशक्ति किसे कहते हैं?

इकाई 23 भोग एवं अपवर्ग

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के उपरांत आप :

- सांख्य दर्शन में भोग एवं अपवर्ग की अवधारणा से परिचित होंगे।
- भोग एवं अपवर्ग की अन्य दर्शनों में प्रचलित संकल्पना को समझ सकेंगे।
- पुरुष एवं प्रकृति के साथ भोग एवं अपवर्ग को संबद्धकर उनके वास्तविक स्वरूप को जन सकेंगे; तथा
- इकाई में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली से अपने ज्ञान में वृद्धि करेंगे।

23.1 प्रस्तावना

बन्धन एवं मोक्ष का विचार भारतीय दर्शन की एक अन्यतम अवधारणा है। इसको लेकर प्रायः सभी आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों में पर्याप्त विचार किया गया है। सांख्यदर्शन में भी इस पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। अन्य दर्शनों में जिसको बन्धन एवं मोक्ष के नाम से अभिहित किया गया है, उसे ही सांख्य दर्शन में भोग एवं अपवर्ग के नाम से उपस्थापित किया गया है। अभिप्राय यह है कि सांख्य बन्धन के लिए भोग जबकि मोक्ष के लिए अपवर्ग पद का प्रयोग करता है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में सांख्यसम्मत इस अवधारणा का सविस्तर विवेचन किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अन्य दर्शनों में जहाँ बन्धन को मोक्ष में बाधक माना गया है, वहीं सांख्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि भोग को उसने मोक्ष या अपवर्ग का साधक माना है। प्रस्तुत इकाई में सांख्यसम्मत भोग एवं अपवर्ग की अवधारणा पर प्रकाश डाला जाएगा, साथ ही पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के निमित्तभूत प्रकृति की सृष्टि पर भी दृष्टिपात किया जाएगा।

सांख्य के प्रमुख दो तत्त्वों में समाहित पुरुष स्वभावतः चेतन, त्रिगुणातीत, अपरिणामी, नित्य, द्रष्टा, विविक्त, विषयी, विशिष्ट, अप्रसवधर्मी, स्वतन्त्र है, किन्तु प्रकृति के साथ संयोग होने से वह अनादिकाल से बद्ध या बन्धनग्रस्त हो जाता है। पुरुष को अपने यथार्थबोध से ही बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। परन्तु अनादिकाल से बद्ध होने के कारण उसे स्वतः अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। उसे उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए ही प्रकृति अपनी सृष्टि के द्वारा पुरुष के

लिए भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि करती है। वह अपनी त्रिगुणात्मिका शक्ति से बन्धन या भोग का उपस्थापन करती है, पुनश्च बन्धन से मुक्ति अर्थात् मोक्ष या अपवर्ग का मार्ग भी प्रशस्त करती है। सांख्य के अनुसार भोग (बन्धन) अपवर्ग (मोक्ष) का साधन है, जबकि अपवर्ग भोग का साध्य है। भोग प्रकृति का धर्म है, यतः भोग एक क्रिया है, जो रजोगुण से समुत्पन्न होता है। अतः भोग साक्षात् रूप से पुरुष से सम्बद्ध नहीं है। सांख्य का पुरुष गुण से रहित होने के कारण भोक्तृभाव से सर्वथा परे है। प्रकृति से संयोग होने के कारण उसमें भोक्तृभाव की भ्रान्ति होती है। इसी प्रकार प्रकृति जो स्वभावतः जड़ होने से अकर्त्ता है, पुरुष के संयोग से चेतनायुक्त होकर सकल सृष्टि की कर्त्ता हो जाती है। प्रकृति और पुरुष का यह संयोग सकारण एवं सप्रयोजन है। प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही स्वरूपतः सर्वथा विपरीत सत्ताएं हैं। एक जड़ है तो दूसरा चेतन। एक त्रिगुणात्मक है तो दूसरा त्रिगुणातीत। एक हेतुमत् अनित्यादि विशेषताओं वाला है तो दूसरा इनसे सर्वथा मुक्त। फिर परस्पर विरोधी स्वभाव वाले इन दो तत्त्वों के संयोग की आवश्यकता क्या है? इसे ही स्पष्ट करते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है कि प्रकृति के दर्शन एवं पुरुष के कैवल्य हेतु इनका आपस में पङ्गु एवं अन्धे व्यक्ति के समान संयोग होता ह।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।।

प्रकृति की सकल सृष्टि का उद्देश्य पुरुषार्थ की सिद्धि है, जिसके लिए वह प्रत्ययसर्ग और तन्मात्राओं से युक्त भौतिक सर्ग करती है, जो अन्ततः पुरुष के कैवल्य प्राप्ति के निमित्त बनते हैं। सम्प्रति प्रकृति के प्रत्यय सर्ग एवं भौतिक सर्ग का विवेचन करते हुए प्रकृति एवं पुरुष के संयोग की सार्थकता और इनके प्रयोजनों की सिद्धि का उपस्थापन किया जा रहा है।

23.2 भोग एवं अपवर्ग – कारिका 53–72

बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा सांख्य में भोग एवं अपवर्ग से अभिहित की जाती है। भोग एवं अपवर्ग में साधन एवं साध्य का सम्बन्ध है। भोग एवं अपवर्ग वस्तुतः प्रकृति के धर्म हैं। बन्धनग्रस्त पुरुष के मुक्त होने का एकमात्र निमित्त अपवर्ग की प्राप्ति है, जिससे वह त्रिविध दुःखों के परिताप से बच सकता है। पुरुष को अपवर्ग की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है, जब तक वह विषयों की भोग एवं तज्जन्य दुःख से उत्पन्न परिताप से मुक्ति की कामना न करे। भोग की उत्पत्ति सृष्टि–व्युत्पत्ति की प्रक्रिया के अधीन है। सांख्य के अनुसार सृष्टि का कारण गुण हैं, जो प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। पुरुष के कैवल्य या मोक्ष के लिए ही प्रकृति अपने गुणों से सृष्टि करती है। जिसके भोगों में आसक्त होकर पुरुष इसके दुःखों से पीड़ित होता हुआ मुक्त होने की अभिलाषा करता है। प्रकृति की प्रत्यय सृष्टि एवं तन्मात्रा सृष्टि अथवा भौतिक सृष्टि पुरुष के कैवल्य प्राप्ति के निमित्त हैं, अतः सम्प्रति इन दोनों सर्गों (सृष्टियों) का प्रतिपादन किया जाता है।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः।।53।।

प्रसङ्ग : प्रकृति की भौतिक सर्ग दैव, तिर्यगादि योनियों में सन्निहित अनेकधा है, जो पुरुष के कैवल्य प्राप्ति में सहयोगी बनता है। प्रस्तुत कारिका में विविध योनियों वाली प्रकृति के भौतिक सर्ग का विवेचन किया गया है।

अन्वय : दैवः अष्टविकल्पः (भवति), तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति, मानुषकश्च एकविधः (भवति), (अयमस्ति) समासतः भौतिकः सर्गः।

अर्थ : देवसृष्टि आठ प्रकार की होती है तथा तिर्यक् अर्थात् पशु–पक्षि योनि–सम्बन्धी सृष्टि पांच प्रकार की है और मानुष यानी मनुष्य सम्बन्धी सृष्टि एक प्रकार की (होती) है। (यही संक्षिप्ततः) भौतिक सृष्टि है।

व्याख्या : ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसम्मत भौतिक अर्थात् पञ्चमहाभूत या स्थूलभूतों से उत्पन्न भौतिक सृष्टि के विवेचनक्रम में यह स्पष्ट किया है कि यह सृष्टि दैवयोनि, तिर्यग्योनि एवं मनुष्ययोनि के आधार पर तीन प्रकार की होती है। इनमें से दैवसृष्टि अर्थात् दैवयोनियाँ आठ होती हैं। जिसमें पहली योनि ब्राह्म है। ब्राह्म योनि में ब्रह्मा के सत्य, जन तथा तप इन तीनों लोकों में होने वाली सृष्टि समाहित है। दक्षादि प्रजापतियों के लोक में जो सृष्टि होती है, वह प्राजापत्य है। देवराज के स्वर्गलोक में होने वाली सृष्टि ऐन्द्र सर्ग है। पितृलोगों की सृष्टि पैत्र सर्ग है। सुमेरु पर्वत के पृष्ठ भाग के वासी गन्धर्व माने जाते हैं, वहाँ होने वाली सृष्टि गान्धर्व है। यक्षों का धाम अर्थात् जहाँ यक्ष लोगों का निवास है, वह वरुणलोक है, अतः वहाँ की सृष्टि ही याक्ष सर्ग है। अतल, वितल इत्यादि से लेकर पाताललोकर्यन्त सात अधोलोकों में होने वाली सृष्टि राक्षस सर्ग है। पिशाचों का निवास भी वहीं हैं, अतः यह ही पिशाचों की भी सृष्टि यानी पैशाच सर्ग भी है। तिर्यग् योनि में उत्पन्न सर्ग अर्थात् तिर्यक् जीव पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप एवं स्थावर नाम की पाँच तिर्यक् सृष्टियाँ हैं। रोम, पूँछ, खुर तथा चतुष्पद से युक्त प्राणी को पशु से अभिहित किया जाता है। जबकि अनेक पैरों से युक्त खुरविहीन जीव 'मृग' हैं। गिलहरी इत्यादि जीव इसमें समाहित हैं। पंखयुक्त आकाशचर पक्षी हैं। चिड़िया, कौवा, गृध्र इत्यादि का परिगणन पक्षियों में होता है। रेंगकर चलने वाले जीव सरीसृप हैं, यथा सांप, विच्छू आदि। एतदतिरिक्त चेष्टारहित किन्तु जीवनयुक्त चेतन सभी को स्थावर की श्रेणी में समाहित किया जाता है। पादप, वृक्ष, लता, पुष्प इत्यादि 'स्थावर' हैं। इस प्रकार पशु–पक्षियों एवं निश्चेष्ट जीवों की सृष्टि ही 'तिर्यग् सर्ग' मानी जाती है। मनुष्य या मानवीय सृष्टि एक ही होती है। ब्राह्मणादि भेद केवल नाममात्रिक एवं सर्ग की दृष्टि से अगण्य हैं।

विशेष : प्रकृति की भौतिक अर्थात् भूतों से उत्पन्न सृष्टि विभिन्न योनियों में समाहित है। भौतिक सर्ग की देव योनि आश्रित सृष्टि आठ प्रकार की होती है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस एवं पैशाच देवयोनि आधारित सृष्टि है। तिर्यग् जीवों पर आधारित सृष्टि भी पाँच प्रकार की होती है– पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर। स्थावर सृष्टि अति विस्तीर्ण मानी जाती है, क्योंकि इसमें ही घटादि जागतिक पदार्थ भी समाहित कर लिए जाते हैं। जबकि मनुष्य सम्बन्धी सृष्टि केवल एक ही होती है। सांख्यतत्त्वकौमुदी के प्रणेता वाचस्पति मिश्र की भी यही सम्मति है। उन्होंने ने सांख्यकारिका के व्याख्याक्रम में इसी तथ्य को व्यवस्थित स्वरूप में प्रकाशित किया है–

भूतादिसर्ग विभजते–"अष्टविकल्प इति। ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः इत्यष्टविधो "दैवः" सर्गः। 'तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति,' पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरा इति। "मानुष कश्चैकविधः" इति ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया, संस्थानस्य चतुर्ष्वपि वर्णेष्वविशेषात् इति। "समासतः" सक्षेपतः भौतिकः सर्गः"। घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।। 54।।

प्रसङ्ग : प्रकृति की भौतिक सर्ग सत्वगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण के भेद से तीन प्रकार की होती है। पूर्वकारिका में भौतिक सर्ग या सृष्टि के योनि आधारित भेद का निरूपण किया गया था। सम्प्रति सत्वादि गुणाधारिति भौतिक सृष्टि का विवेचन किया जा रहा है।

अन्वय : ऊर्ध्व सर्गः सत्त्वविशालः, मूलतः च (सर्गः) तमोविशालः, मध्ये सर्गः रजोविशालः, (अयं सर्गः) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः (अस्ति)।

अर्थ : ऊर्ध्वलोक अर्थात् सत्यलोकों में सत्त्वगुणप्रधान सर्ग है। मूल अर्थात् जड़ या नीचे अवस्थित सर्ग तमोगुण प्रधान है। मध्य में रजोगुण प्रधान सर्ग (विद्यमान) है। (गुणावलम्वित प्रकृति की यह भौतिक सृष्टि) ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त (व्याप्त) है।

व्याख्या : भुवः, स्वः, महः,जनः, तपः इत्यादि लोक ऊर्ध्व या ऊपर अवस्थित लोक हैं, जिसमें उच्चचेतना वाले जीव (देवतादि) निवास करते हैं। यहाँ की सृष्टि सत्वप्रधान होती है। अतः देवता इत्यादि सत्वगुण से युक्त होते हैं। मूलतः अर्थात् नीचे के लोक या निम्न श्रेणियों में तमोगुण की बहुलता मानी गई है। इसके अन्तर्गत पशु, पक्षी एवं स्थावर जीव आते हैं, अतः वे तमोगुण प्रधान होते हैं, तथा वहाँ की सृष्टि तमोगुण प्रधान सर्ग कहलाती है। और मध्यलोक में रजोगुण–प्रधान सर्ग होती है, अतः वहाँ रहने वाले जीव रजोगुण–प्रधान होते हैं। मनुष्य इसी श्रेणी में आता है, फलतः मनुष्य में रजोगुण की प्रधानता होती है। प्रकृति की त्रिगुणाधारित यह सृष्टि अत्यन्त विस्तीर्ण है, जिसमें ब्रह्मा जैसे दैव योनि से लेकर मानुष योनिज मनुष्य, पशु–पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जीव तथा तृण जैसे स्थावर योनि सहित सभी जीव समाहित हो जाते हैं।

विशेष– गुणों के आधार पर जीवों में चेतनता की न्यूनाधिक्यता देखी जाती है। सत्वगुण प्रधान होने पर चैतन्यता अधिक होती है, जबकि तमोगुण की प्रधानता से जड़ता अधिक होती है। सांख्य दर्शन में गुणों के आधार पर जीवों की चेतना श्रेणी को समुचितरूप में विवेचित किया गया है। ऊर्ध्व या सत्व लोकों में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, अधो या निम्न लोकों में तमोगुण की प्रधानता है तथा मध्य लोक में रजोगुण की प्रधानता होती है। यह चेतना श्रेणियों के आधार पर सृष्टि का विचार है, जिसमें ब्रह्मा से लेकर तृणादि–पर्यन्त सृष्टि समाहित है। वाचस्पति मिश्र का अभिमत है कि भुवः लोक से लेकर सत्यलोकपर्यन्त अर्थात् भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् लोक ये ऊर्ध्व लोक माने जाते हैं, जहाँ के जीव सत्त्वप्रधान होते हैं। पशुओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावरों की उत्पत्तिस्थल अधोलोक है, ये निम्न श्रेणी में समाहित सृष्टि के अन्तर्गत आते है, फलतः इनमें तमोगुण की प्रधानता होती है। सात द्वीपों और समुद्रों से युक्त मध्यलोक जिसमें धर्म–अधर्म इत्यादि कर्म होते हैं, अतः कर्म की प्रधानता होने से यहाँ रजोगुण का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। रजोगुण की बहुलता से यहाँ दुःख की भी बहुलता होती है। मनुष्य इसी श्रेणी का प्राणी है। इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त गुणाधारित प्रकृति सर्ग है। जिसमें तृण के द्वारा वृक्षादि का भी अवबोध करा दिया गया है–

द्युप्रभृतिसत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः। "तमोविशालश्च मूलतः सर्गः" पश्वादिस्थावरान्तः, सोऽयं मोहमयत्वात्तमोबहुलः। भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्नि वैशो "मध्ये रजोविशालः",

धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च। तामिमां लोकसंस्थितिं सङ्क्षिपति 'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः" स्तम्बग्रहणेन वृक्षादयः सङ्ग्रहीताः।

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन।।55।।

प्रसङ्ग : प्रकृति की भौतिक सृष्टि विभिन्न योनियों में समाहित है। पुरुष रजोगुणबहुल मध्यलोक का प्राणी है, जिसमें रजोगुण की प्रधानता के कारण दुःखाधिक्य भी होता है। फलतः पुरुष को इन दुःखों को भोगना पड़ता है। प्रस्तुत कारिका में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है।

अन्वय : तत्र लिङ्गस्याविनिवृत्तः चेतनः पुरुषः जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, तस्मात् दुःखं स्वभावेन (भवतीति)।

अर्थ : वहाँ (मध्यलोक में) लिङ्ग शरीर की निवृतिपर्यन्त चेतन पुरुष जरामरण से उत्पन्न दुःख प्राप्त करता है (भोगता है)। इसलिए दुःख (लिङ्ग शरीर की निवृत्ति होने तक) स्वभाव से होता है। .

व्याख्या : सात द्वीपों एवं समुद्र वाला भाग मध्यलोक कहलाता है, जो रजोगुण से अभिव्याप्त है। रजोगुण क्रियाशीलता एवं दुःखबहुलता का उत्पादक माना जाता है। मनुष्य इसी लोक का निवासी है। अतः दुःख भी वह स्वाभाविक रूप से भोगता है। उसका यह दुःख जरा अर्थात् वृद्धावस्था एवं मृत्यु से जन्य है, जो लिङ्गशरीर से विविक्त होने तक निरन्तर विद्यमान रहता है। ईश्वरकृष्ण ने ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं मध्यलोक के आधार पर प्रकृति के तीन प्रकार के सर्गों का उल्लेख किया है। इनमें से ऊर्ध्वलोक सत्वप्रधान है, अधोलोक तमोप्रधान है, जबकि मध्यलोक रजोगुण प्रधान है। रजोगुण की प्रधानता के कारण यहाँ पर अनेकशः क्रियाएं भी निरन्तर होती रहती हैं, जो दुःख को प्रदान करने वाली हैं। मनुष्य मध्यलोक का वासी होने से इन दुःखों को स्वाभाविक रूप से प्राप्त करता रहता है। वह इन दुःखों को तब तक भोगता है, जब तक उसे लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर से मुक्ति नहीं मिल जाती है। ये दुःख जरा और मरण से जन्य हैं। बुढ़ापा कष्टकारी होता है, यह विदित ही है। मृत्यु का भय भी दुःख को उत्पन्न करता है। और मृत्युभय से जन्य दुःख मनुष्य को सदैव पीड़ित करता रहता है।

विशेष : प्राणियों के सुख में विविधता होती है, किन्तु सभी के दुःख जरा और मरण से उत्पन्न होने से समान ही होते हैं। सभी प्राणियों यहाँ तक कि कीड़ों इत्यादि में भी जरामरणजन्य भय से उत्पन्न दुःख अवश्य होता है। दुःख रजोगुण से उत्पन्न होता है। गुण से परे होने के कारण पुरुष इसका भोक्ता कैसे हो सकता है? क्योंकि पुरुष स्वभावतः चेतन है। चेतनायुक्त होने से गुणों से रहित भी है, ऐसी स्थिति में पुरुष दुःखों को कैसे भोगता है? इस शंका का समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'पुरुष' शब्द का अर्थ ही है– 'पुरी' अर्थात् लिङ्ग शरीर में रहने वाला अथवा लिङ्ग शरीर से उपहित। 'लिङ्ग शरीर' बुद्धि से सम्बद्ध है, अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और उसके दुःखादि गुणों का अपने अन्दर अभ्यास करता है और उससे सम्बद्ध होकर स्वाभाविक रूप से दुःख को भोगता है। इस दुःख से मुक्ति का आत्यन्तिक निवृत्ति अपवर्ग की प्राप्ति से ही संभव है। और अपवर्ग की प्राप्ति तक तक नहीं हो सकती है, जब तक पुरुष लिङ्गशरीर से बद्ध है। अतएव लिङ्गशरीर से मुक्त होने तक पुरुष इस जरामरण से उत्पन्न दुःख को भोगता है–

'तत्र' शरीरादौ। यद्यपि विविधविचित्रानन्दभोगभागिनः प्राणभृद्भदाः, तथाऽपि सर्वेषां जरामरणकृतं दुरूखमविशिष्टम्। सर्वस्य खलु कृमेरपि मरण त्रासो—'मा न भूवम्' 'भूयासम्' इत्येवमात्मकोऽस्ति। दुःखं च भयहेतुरिति दुःखं मरणम्। स्यादेतत्य दुःखादयः प्राकृताः बुद्धिगुणाः, तत्कथमेते चेतनसम्बन्धिनो भवन्तीत्यत आह—"पुरुषः" इति । पुरि लिङ्ग शेते इति पुरुषः। लिङ्ग च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः ।। 56।।

प्रसङ्ग : प्रकृति के सृष्टि का मुख्य प्रयोजन पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि है। प्रस्तुत कारिका में इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है।

अन्वय : इत्येषः प्रकृतकृतः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः आरम्भः प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थः (भवति)।

अर्थ : पूर्वोक्त प्रकृति द्वारा की गई महत्तत्व से लेकर आकाश इत्यादि महाभूतों तक की यह सष्टि प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए है। अपने लिए की गई सी प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए ही है।

व्याख्या : प्रकृति की भौतिक सृष्टि महत्तत्व से लेकर महाभूतपर्यन्त अभिव्याप्त है। इसका मुख्य प्रयोजन प्रत्येक पुरुष के मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना ही है। प्रकृति की यह सृष्टि ऐसी प्रतीत होती है, मानो उसने यह अपने लिए किया है, किन्तु वास्तविकरूप में यह परार्थ अर्थात् पुरुष के मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होता है।

विशेष : प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की सृष्टि के प्रयोजन के साथ—साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सृष्टि की प्रकृतेतर कारणता उन्हें मान्य नहीं है। अभिप्राय यह है कि महत् से लेकर आकाश इत्यादि भूतों तक सारी सृष्टि प्रकृति द्वारा ही की गई है, न कि ईश्वर के द्वारा जैसा कि न्याय दर्शन इत्यादि की मान्यता है। प्रकृति सृष्टि स्वार्थ के लिए नहीं करती है, अपितु उसके सृष्टि का प्रमुख प्रयोजन परार्थ या परमार्थ ही है। सांख्यदर्शन सृष्टि हेतु प्रकृति एवं इसके गुणों को ही पर्याप्त मानता है। इसके लिए न तो ईश्वर की आवश्यकता है और नहीं न तो ब्रह्म की। ध्यातव्य है कि न्याय दर्शन ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानता है, जबकि वेदान्त सृष्टि को ब्रह्मरूप उपादान कारण का परिणाम स्वीकार करता है। ये दोनों ही मत सांख्य को अभिमत नहीं हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग से स्वतः ही सृष्टि करने में समर्थ हो जाती है। प्रकृति की कारणता पर प्रतिपक्षी यह शंका करते हैं कि प्रकृति नित्य व्यापारशीला है, इसलिए उसकी सृष्टि सदैव होती रहेगी और कोई भी पुरुष कदापि मुक्त ही नहीं हो पाएगा। इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि ही प्रकृति की सृष्टि का प्रयोजन है। जिस प्रकार चावल पकाने का इच्छुक व्यक्ति तदर्थ पाककर्म में प्रवृत्त होकर उसकी सिद्धि होते ही इस कर्म से निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष को बन्धनमुक्त कराते ही प्रकृति मुक्त पुरुष हेतु पुनः सृष्टि नहीं करती है। अतः प्रकृति की व्यापारशीलता उसके सृष्टिकारणता में कोई बाधक नहीं है—

महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो, नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानः, नाप्यकारणः। अकारणत्वे ह्यत्यन्तभावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः, चितिशक्तेरपरिणामात्, नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः निर्व्यापारस्याऽधिष्ठातृत्वासम्भवात्। न हि निर्व्यापारस्तक्षा

वास्याद्यधितिष्ठति। ननु प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यत आह—"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः" इति। यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते, एवं प्रत्येकापुरुषान् मोचयितम्प्रवृत्ता प्रकृतिर्यं पुरुषं मोचयति तम्प्रति पुनर्न प्रवर्तते, तदिदमाह—'स्वार्थ इव,' स्वार्थे यथा तथा परार्थे प्रारम्भ इत्यर्थः।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।। 57।।

प्रसङ्ग : सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति जड़ या अचेतन है। जड़ होकर भी वह सृष्टि करने के प्रति प्रवृत्त कैसे होती है? प्रस्तुत कारिका में इस बात पर विचार किया गया है।

अन्वय : यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः तथा पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्य प्रवृत्तिः (भवति)।

अर्थ : जैसे बछड़े (छोटे बच्चे) की वृद्धि के लिए (ज्ञानरहित) अचेतन दुग्ध (स्वतः) की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए (जड़) प्रकृति की (भी स्वतः) प्रवृत्ति (होती) है।

व्याख्या : सांख्यदर्शन में प्रकृति सृष्टि का प्रधान कारण मानी गई है। प्रकृति अचेतन या जड़ है। जड़ वस्तु किसी कार्य के प्रति स्वतः से प्रेरित नहीं हो सकती है। इसी शंका का परिहार करते हुए ईश्वरकृष्ण कहते हैं कि जैसे छोटे बच्चे या बछड़े के विकास के लिए दूध की स्वतः प्रवृत्ति होती है, उसे निकलने के लिए किसी को प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं होती है, ठीक इसी प्रकार पुरुष के अपवर्ग के निमित्त अचेतन या जड़ प्रधान की प्रवृत्ति भी स्वतः ही होती है। यदि ऐसी शंका की जाए कि दूध की प्रवृत्ति ईश्वर की प्रेरणा से होती है, अतएव प्रकृति की प्रवृत्ति का निमित्त या अधिष्ठाता ईश्वर ही है, तो यह उचित नहीं है। ईश्वर को सृष्टि के प्रति किसी भी तरह से निमित्त या अधिष्ठाता मानने पर प्रमुख दो विसंगतियाँ परिलक्षित होती हैं — पहली यह कि व्यापार शून्य ईश्वर कर्म का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? और दूसरी ईश्वर किस प्रयोजन से प्रकृति को सृष्टि कारणता हेतु उद्यत करता है? ईश्वररूप चेतन आत्मा स्वभावतः निष्क्रिय है, ऐसी स्थिति में उसको अधिष्ठाता मानना अनुचित है। और यदि प्रयोजन की दृष्टि से यह कहें कि ईश्वर करुणावश सृष्टि हेतु प्रेरित करता है, तो यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि संसार के प्राणियों में दुःख, कष्ट, अभाव इत्यादि भाव परिलक्षित होते हैं। ऐसी स्थिति में करुणायुक्त ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता या प्रेरक मानना सही नहीं है। इस तथ्य का सतर्क सविस्तर विवेचन सांख्यकारिका के व्याख्या ग्रन्थ सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने किया है।

विशेष : अचेतन प्रकृति सृष्टि के प्रति स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकती है। क्योंकि अपने अथवा दूसरे के लिए चेतन की ही प्रवृत्ति देखी जाती है। अचेतन प्रकृति तो इस प्रकार प्रवृत्त हो ही नहीं सकती है। अतः प्रकृति का प्रेरक किसी चेतन को मानना चाहिए। पुरुष या जीव चेतन तो हैं, किन्तु उसे अपने स्वरूप का वास्तविक भान ही नहीं है, तभी तो भ्रमित होकर वह नानाविध दुःखों का अनुभव करता रहता है। अतः वह प्रकृति का अधिष्ठाता या प्रेरक नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का अधिष्ठाता कोई सर्वज्ञ पुरुष होगा और वह 'ईश्वर' है। इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि दूध की तरह प्रकृति भी अचेतन ही स्वतः प्रवृत्त हो सकती है।

किसी चेतन को यदि अधिष्ठाता माना जाएगा तो वह अधिष्ठाता किसी प्रयोजन या स्वार्थवश ही प्रेरक के कार्य में संलग्न होगा। ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर भी यह समस्या उपस्थापित होगी। ईश्वर के सृष्टि का अधिष्ठान बनने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। यदि यह माना जाए कि ईश्वर करुणा से ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है तो सृष्टि के पहले जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों की उत्पत्ति न होने से जब उनको दुःख ही नहीं है, तो ईश्वर में करुणा का भाव आएगा कहाँ से? इसी प्रकार यदि ऐसा माना जाए कि सृष्टि के बाद दुःखियों को देखकर ईश्वर में करुणा का भाव उत्पन्न होता है – तो 'करुणाभाव से सृष्टि होती है और सृष्टि से करुणाभाव उत्पन्न होता है' – इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष आएगा। साथ ही यदि ईश्वर करुणा से ही प्रेरित होकर सृष्टि का अधिष्ठाता बनते हैं, तो उन्हें केवल सुखी एवं निरोगी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए। दुःखयुक्त प्राणियों का सृजन तो ईश्वर की अपूर्णता का द्योतक है। इसी प्रकार यदि यह कहा जाय कि कर्म के शुभाशुभ के आधार पर उसके फल भी शुभाशुभ होते हैं, फलतः सुख एवं दुःख रूप फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर यहाँ निमित्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर को कर्म का अधिष्ठाता मानना ही निरर्थक हो जाएगा –

स्यादेतत्–स्वार्थ परार्थ वा चेतनः प्रवर्तते न च प्रकृतिरचेतनैव भवितुमर्हति। तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः। न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृतिमधिष्ठातुमर्हन्ति, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात्। तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः। प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्यत्वात् ते जगत्सर्गाद् व्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्तयतः। न ह्यवाप्त सकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सुजतः किमप्यभिलषितम्भवति। नाऽपि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः, प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छाकारुण्यम्? सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वं दूषणम्। कारुण्येन सृष्टिः सृष्टया च कारुण्यमिति।

अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान्। कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन? तदनधिष्ठानमात्रादेव.... चेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखनिवृत्तेरपि सुकरत्वात्।

औत्सुक्यविनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्।।58।।

प्रसङ्ग : अचेतन प्रकृति और चेतन पुरुष परस्पर दो विरोधी सत्ताएं हैं। ऐसी स्थिति में अपने विरोधी पुरुष के प्रयोजन अपवर्ग की प्राप्ति के लिए आवश्यक सृष्टि का प्रवर्तन करने में प्रकृति का अपना प्रयोजन क्या है, सम्प्रति इसी रहस्य से पर्दा उठाया जा रहा है।

अन्वय : यथा लोकः औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते, तद्वत् अव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते।

अर्थ : जैसे लोग (मनुष्य) इच्छा की निवृत्ति के लिए कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

व्याख्या : जिस प्रकार सांसारिकजन अपनी इच्छा की पूर्ति अर्थात् फल की प्राप्ति हेतु किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं, तथा कार्य की सिद्धि होते ही इससे निवृत्त भी हो जाते हैं, ठीक इसी प्रकार प्रकृति के भी सृष्टि के लिए उद्यत होने का एक विशेष प्रयोजन है, और वह है–पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि। इसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

किसी कार्य को करने हेतु स्वार्थजनित प्रयोजन की आवश्यकता चेतन प्राणियों में होती है। अचेतन की प्रवृत्ति तो स्वार्थरहित ही होती है। दूध, नदियाँ, झरने, वृक्ष चेतनरहित होकर भी बिना किसी प्रयोजन के ही निरन्तर अपने कार्य में संलग्न रहते हैं। इसी प्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति में भी स्वार्थ या करुणाभाव की कोई अपेक्षा नहीं होती। अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन केवल पुरुष के अर्थ की सिद्धि ही है।

विशेष –प्रकृति की सृष्टि का प्रयोजन स्वार्थजनित नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में स्पष्ट किया है कि प्रकृति परमार्थ अर्थात् पुरुष के अर्थ अपवर्ग की सिद्धि के लिए ही सृष्टि का प्रणयन करती है। उसका यह कार्य दूसरों के लिए है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति ने सृष्टि अपने लिए ही की है। प्रकृति के सृष्टि रूप कार्य का लक्ष्य पुरुष के लिए अपवर्ग की सिद्धि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सृष्टि करने में उसका अपना स्वार्थ निहित नहीं है। स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी कार्य को करने में उद्यत होना चेतन जीवों का स्वभाव है। प्रकृति अचेतन है। अतः उसके निःस्वार्थ सृष्टि हेतु उद्यत होने में कोई असंगति भी नहीं है। ईश्वरकृष्ण विरचित कारिका में 'औत्सुक्य' का अर्थ–इच्छा है। इच्छा अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने पर समाप्त हो जाती है, और प्रकृति की इस इच्छा का अभीष्ट है 'पुरुषार्थ' (मोक्ष) क्योंकि जो अभीष्ट होता है, वही कार्य या प्रवृत्ति का लक्ष्य भी होता है –

"स्वार्थ इव" इति दृष्टान्तितम्। तद्विभजते – "औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्" इति। औत्सुक्यमिच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ।।59।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका से पहले की कारिका में प्रकृति के सृष्टि रूप कार्य का प्रयोजन बताया गया था। सम्प्रति प्रकृति सृष्टिकार्य से कब निवृत्त होती है, यह स्पष्ट किया जा रहा है।

अन्वय : यथा नर्तकी रङ्गस्य (आत्मानम्) दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्तते तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते ।

अर्थ : जैसे नर्तकी (रंगमंच पर) दर्शकों के समक्ष (नृत्य के लिए एक बार अपना) नृत्य दिखाकर नृत्य से निवृत्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट (उपस्थित) कर निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या : जिस प्रकार रंगमंच पर नर्तकी अपना नृत्य दिखाकर वापिस चली जाती है। उसे बार–बार अपने आपको वहाँ प्रदर्शित करना नहीं पड़ता है क्योंकि वह दर्शकों के मनोरञ्जनरूप लक्ष्य को सिद्ध कर चुकी होती है। उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के समक्ष अपने आपको दिखलाकर उसके अपवर्ग रूप प्रयोजन की सिद्धि कर लौट जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को वह एक बार अपनी सृष्टि का दर्शन करा देती है, उसके लिए उसे पुनः सृष्टि करने की आवश्यकता नहीं होती है। प्रकृति के दर्शन से ही पुरुष का परम प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अतएव बारंबार प्रकृति सृष्टि प्रक्रिया में संलग्न नहीं होती है। पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रकृति को किसी भी अन्य प्रयोजन की आवश्यकता नहीं होती है। अपितु पुरुष के लिए उसके प्रयोजन की प्राप्ति कराना ही प्रकृति का भी एकमात्र प्रयोजन होता है। जैसे मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपने अभिलषित अर्थ या फल की प्राप्ति हेतु प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुष के प्रयोजन अपवर्ग की सिद्धि हेतु प्रवृत्त होना प्रकृति का नैसर्गिक गुण है। एतदर्थ उसे

किसी स्वार्थ या निमित्त की आवश्यकता नहीं होती है। और प्रयोजन की सिद्धि होते ही उसे पुनः इस कार्य में संलग्न होने की आवश्यकता भी नहीं होती है।

विशेष– प्रकृति की सृष्टि प्रक्रिया में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण पुरुष के अर्थ की सिद्धि है, यह सिद्ध है। परन्तु उस प्रवृत्ति (व्यापार) से वह निवृत्त कब होती है? जिस प्रकार मनुष्य का कार्य में संलग्नता फल की प्राप्तिपर्यन्त होती है, और यही उसका उद्देश्य भी होता है, उसी प्रकार प्रकृति की अपने कार्य सृष्टि में संलग्नता का उद्देश्य पुरुषार्थ यानी अपवर्ग की सिद्धि ही है। वह अपने इस सृष्टि रूप कार्य से निवृत्त कब होती है, इसका उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि स्थान के वाचक 'रङ्ग' से रङ्गस्थानीय सभ्य (दर्शक) लक्षित होते हैं। अर्थात् रङ्गमञ्चीय प्रस्तुति केवल दर्शकों के मनोविनोद के लिए होता है। इसी प्रकार अपने को शब्दादि स्वरूप द्वारा पुरुष से भिन्न या पृथक् रूप में पुरुष के समक्ष प्रकट करके, उसके अपवर्ग की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करते ही प्रकृति की सृष्टिप्रक्रिया में प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है–

ननु भवतु पुरुषार्थः प्रकृतेः प्रवर्तकः, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेः? इत्यत आह – 'रङ्गस्य' इति। "रङ्गस्य" इति, स्थानेन स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति। 'आत्मानम्' शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्येत्यर्थः।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति।।60।।

प्रसङ्ग : प्रकृति के सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के परम प्रयोजन अपवर्ग के मार्ग को प्रशस्त करना है। प्रकृति अपना यह कार्य निःस्वार्थभाव से करती है, इसी को प्रस्तुत कारिका में उपस्थापित किया गया है।

अन्वय : उपकारिणी गुणवती (प्रकृतिः) अगुणस्य सतः अपि अनुपकारिणः पुंसः तस्य अर्थं नानाविधैः उपायैः अपार्थकं चरति। .

अर्थ : उपकारिणी एवं गुणवती प्रकृति निर्गुण एवं अनुपकारी होने पर भी उस पुरुष के प्रयोजन को अनेक उपायों द्वारा व्यर्थ ही साधती है।

व्याख्या : प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। पुरुष गुणों से रहित है। अपने से स्वभावतः भिन्न होने पर भी प्रकृति पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करती है। प्रकृति गुणवती है और उपकारी है, जबकि पुरुष निर्गुण है और प्रत्युपकार न करने वाला भी है। पुरुष के ऐसा होने पर भी प्रकृति अपने अनेकानेक उपायों से व्यर्थ ही अर्थात् बिना किसी स्वार्थ के ही पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि हेतु प्रवृत्त होती है। प्रकृति पुरुष का उपकार करे, इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु बदले में उसे पुरुष से भी किसी अभिलषित अर्थ या प्रयोजन की सिद्धि की कामना तो करनी ही चाहिए। जैसे दासी अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करती है और एक स्वाभाविक कामना भी रखती है कि स्वामी के तुष्ट होने पर उसे पारितोषिक भी प्राप्त होगा। किन्तु प्रकृति द्वारा पुरुष का उपकार विना किसी प्रत्युपकार की अभिलाषा से की जाती है। क्योंकि पुरुष स्वभावतः गुणरहित एवं प्रत्युपकार नहीं करने वाला है। अतएव पुरुषार्थ या अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रकृति द्वारा की गई सृष्टि सर्वथा निःस्वार्थ एवं हर कामना से विरहित है।

विशेष : प्रकृति उपकारक एवं गुणवती है। वह पुरुष के कार्य के लिए प्रवृत्त होती है, परन्तु उपकृत पुरुष से भी क्या बदले में उसे कोई प्रत्युपकार की प्राप्ति होती है, जैसे दासी को अपने स्वामी के आज्ञापालन से होती है। यदि ऐसा होता है तो प्रकृति का

यह सृष्टि रूप कार्य परार्थ अर्थात् पुरुष के अपवर्ग रूप अर्थ के लिए (ही) होता है, यह असिद्ध हो जाएगा। और उसका गुणवती होकर निःस्वार्थ कार्य करने का भाव निरर्थक हो जाएगा। इसका परिहार करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि गुणरहित, उपकार के बदले प्रत्युपकार न करने वाले स्वामी के समान निर्गुण अनुपकारी पुरुष इस तपस्विनी प्रकृति का कोई उपकार नहीं करता है, अतएव सृष्टिप्रक्रिया के प्रति प्रकृति की प्रवृत्ति अपने लिए न होकर निःस्वार्थभाव से पुरुष के लिए ही होती है –

स्यादेतत्–'प्रवर्ततां प्रकृतिः पुरुषार्थम्। पुरुषादुपकृतात्प्रकृतिलप्स्यते कञ्चिदुपकारम् , आज्ञासम्पादनाराधितादिवाज्ञापयितुभुजिष्या, तथा च न परार्थोऽस्या प्रारम्भः' इत्यत आह "नाना" इति।

यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत एवाऽनुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः, एवमियं कृतिस्तपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम्।

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य।।61।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका में यह बताया गया है कि प्रकृति अति लज्जाशीला होती है। पुरुष द्वारा एक बार प्रकृति को देख लिए जाने पर वह पुनः उस पुरुष के सम्मुख नहीं जाती है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति की सृष्टि प्रक्रिया किसी पुरुष के लिए केवल एकबार ही होती है।

अन्वय : प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चित् अस्ति, इति मे मतिः भवति, या दृष्टा अस्मि इति पुनः पुरुषस्य दर्शनं न उपति।

अर्थ : प्रकृति से सुकुमार (लज्जाशीला) कोई और नहीं है, ऐसा मेरा मत है। (क्योंकि) जो देख ली गई हूँ, ऐसा (जानकर) फिर (उस) पुरुष की दृष्टि में नहीं आती है।

व्याख्या : प्रकृति की सुकुमारता या लज्जाशीलता के बारे में अपना मत रखते हुए कहते हैं कि प्रकृति से अधिक लज्जाशीला कोई अन्य नहीं है। जैसे ही उसे इसका भान होता है कि पुरुष ने उसे देख लिया है, वह पुनः उसके सम्मुख अपने आपको प्रकट नहीं करती है। इस प्रकार प्रकृति किसी एक पुरुष के लिए केवल एक बार ही अपने आपको प्रकट करती है, अथवा सृष्टि करती है। प्रकृति के दर्शनमात्र से पुरुष को यह यह परिज्ञान हो जाता है कि वह प्रकृति से भिन्न है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप का अवबोध हो जाता है। वह प्रकृति के गुणों से युक्त होकर भोगों में रमते हुए कष्टानुभव करता रहा था। अपने स्वरूप के ज्ञान से ही उसे मुक्ति मिल जाती है, फलतः उसके लिए प्रकृति को पुनः प्रवृत्त होने की आवश्यकता भी नहीं होती है। कैवल्य प्राप्त पुरुष को प्रकृति पुनः भोगों में आसक्त नहीं करती है। प्रकृति से उपकृत एवं कैवल्य प्राप्त पुरुष भी पुनः भोग में अनुलग्न नहीं होता है।

विशेष : प्रकृति नर्तकी की तरह अपने आपको पुरुष से विमुख कर लेती है। जिस तरह नर्तकी रङ्गमञ्च पर अपना नृत्य प्रस्तुत कर दर्शकों के आनन्द प्राप्तिरूप लक्ष्य को सिद्ध कर निवृत्त हो जाती है, ठीक वैसे ही प्रकृति भी पुरुष के लिए सृष्टि कर उसके अपवर्गरूप लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त कर निवृत्त हो जाती है। परन्तु यहाँ एक स्वाभाविक शंका यह उठती है कि जैसे नर्तकी द्वारा दर्शकों को अपना नृत्य दिखाने के पश्चात् भी दर्शकों में उसके नृत्य को पुनः देखने की इच्छा हो सकती है। और उनके

आनन्द के लिए उसे पुनः रङ्गमञ्च पर नृत्य करने जाना पड़ता है। वैसे ही प्रकृति को भी क्या अपने आपको पुरुष के सामने प्रकट करने के पश्चात् पुनः प्रकट करने की आवश्यकता पड़ती है। इसका निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र ईश्वरकृष्ण द्वारा उपस्थापित मत के आलोक में यह स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति ऐसा करने में सर्वथा असमर्थ होती है। क्योंकि वह अत्यन्त लज्जावती होती है। एक बार ही जैसे उसे यह पता चलता है कि पर पुरुष ने उसको देख लिया है, वह पुनः कथमपि भी अत्यधिक लज्जा के कारण उसके सम्मुख नहीं जाती है। इस प्रकार प्रकृति की प्रवृत्ति किसी पुरुष के प्रति केवल एकबार ही होती है –

नर्तकी नृत्यम्परिषद्भयो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तद्दृष्टः कौतूहलात् प्रवर्तते यथा, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायाऽऽत्मानं दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः प्रवर्तयति' इत्यत आह – "प्रकृतेः" इति। सुकुमारतरताऽतिपेशलता, परपुरुषदर्शनासहिष्णुतेति यावत्।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कञ्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।। 62।।

प्रसङ्ग : प्रकृति सृष्टि करके पुरुष के लिए भोग का सृजन करती है। वह ही उसे बन्धनग्रस्त करके अन्ततः मुक्त होने का मार्ग भी प्रशस्त करती है। इस प्रकार विविध कार्यों के करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति का ही बन्धन एवं मोक्ष होता है। इस तथ्य पर ही प्रस्तुत कारिका में चर्चा की जा रही है–

अन्वय : तस्मात् अद्धा कश्चित् (पुरुषः) न बध्यते न च मुच्यते न अपि संसरति, प्रकृतिरेव नानाश्रया संसरति, बध्यते, मुच्यते (च)।

अर्थ : इसलिए वास्तव में किसी पुरुष का न तो बन्धन, न मुक्ति और न ही संसरण होता है। (अपितु) अनेक आश्रयों वाली प्रकृति ही (मानो) संसरण करती है, बन्धनग्रस्त होती है और मुक्त होती है।

व्याख्या : प्रकृति ही पुरुष के लिए विविध भोगों का विधान करती है। वह ही पुरुष के लिए विषयों के निर्माण में प्रवृत्त होती है। अपने विषयों से वह ही पुरुष को प्रथमतः बन्धन में डालती है और अन्ततः उससे निवृत्त होकर वह ही पुरुष के लिए अपवर्ग का मार्ग भी प्रशस्त करती है। प्रकृति की विविध कारणता को देखकर यह विदित होता है कि बन्धन, मोक्ष एवं विविध दुःखों में संसरण प्रकृति का ही होता है, न कि पुरुष का। क्योंकि पुरुष निर्गुण, और समस्त विकारों से रहित है। अतः पुरुष का बन्धन, संसरण एवं मोक्ष संभव ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम प्रकृति की विषयों में प्रवृत्ति होती है। वह पुरुष को अपने स्वरूप का निदर्शन भी कराती है, और अन्त में अपने स्वरूप का दिग्दर्शन कराकर पुरुष को अपने से भिन्न होने का भान भी करा देती है। इस प्रकार भोग का उत्पादन, बन्धन एवं अपवर्ग के मार्ग का निष्पादन करती हुई प्रकृति विविध रूपों में विभिन्न कार्यों का प्रवर्तन करती है। प्रकृति की विविध कारणता को देखने से एवं पुरुष की निर्गुणता से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः प्रकृति का ही बन्धन, संसरण एवं मोक्ष होता है। पुरुष न तो बन्धनग्रस्त होता है, न ही मुक्त होता और न ही विविध दुःखों को भोगता है।

विशेष : प्रकृति की बन्धन, मोक्ष, सांसारिक विषयों एवं दुःखों में संसरणता यह द्योतित करता है कि वस्तुतः बन्धनादि सभी कृत्य प्रकृति के ही होते हैं, पुरुष के नहीं। इसे सिद्धान्ततः सिद्ध करते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि पुरुष गुणातीत और निर्विकार है। निर्गुण एवं निर्विकार होने से वह मोक्ष प्राप्तकर्ता नहीं हो सकता है। मोक्ष

'मुच्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है– 'बन्धन से छुटकारा'। बन्धन से छुटकारा तो उसी का होगा जो वासनादि कर्मों से बन्धनग्रस्त होगा। पुरुष निर्विकार और गुणातीत होने से कर्मलिप्तता से परे है। ऐसी स्थिति में भोग, अपवर्ग इत्यादि जो पुरुष के लिए विहित हैं, सब धारणाएं काल्पनिक लगने लगती हैं। इसका निराकरण यह है कि वस्तुतः अनेक पुरुषाश्रिता प्रकृति के लिए ही बन्धन, मोक्षादि होते हैं। प्रकृति की सृष्टि सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य पुरुष में मोक्षादि आरोपित कर दिए जाते हैं। जबकि पुरुष इनसे सर्वथा पृथक् है। जिस प्रकार स्वामी की जय–पराजय में उसके भृत्य भाग लेते हैं, वैसे ही अपने स्वरूप को विस्मृत कर चुका पुरुष प्रकृति के लाभ, शोक इत्यादि फल में सहभागी होकर मोक्ष का प्राप्तकर्ता बन जाता है। वस्तुतः बन्धन एवं मोक्षादि पुरुष के नहीं, अपितु प्रकृति के ही होते हैं –

"पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी, कथमस्य मोक्षः? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्, सवासनक्लेशकर्माशयानाञ्च बन्धनसमाख्यानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। अत एवाऽस्य न संसारः प्रेत्यभावापरनामाऽस्ति, निष्क्रियत्वात्। तस्मात् 'पुरुषविमोक्षार्थम्' इति रिक्तं वचः"–इतीमां शङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्यु पगच्छन्नपाकरोति। श्रद्धा न कश्चित् पुरुषो बध्यते, न कश्चित् संसरति, न कश्चिन्मुच्यते । प्रकृतिरेव तु नानाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते चेति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषेषूपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलामादेः स्वामिनि सम्भवात। भोगापवर्गयोश्च प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्बन्ध उपपादित इति सर्वं पुष्कलम्।

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।63।।

प्रसङ्ग : प्रकृति स्वयमेव विविध रूपों में बन्धन, संसरण एवं मोक्ष को सिद्ध करती है। सम्प्रति प्रकृति अपने किस रूप से बन्धन को प्राप्त होती है, और कौन सा रूप उसे मुक्ति प्रदान करता है, इस तथ्य का विवेचन किया जा रहा है–

अन्वय :प्रकृतिःसप्तभिःएवरूपैआत्मना आत्मानं बध्नाति,सैवच एकरूपेण पुरुषार्थं (आत्मानं) विमोचयति ।

अर्थ : प्रकृति अपने सात रूपों द्वारा स्वयं को ही बाँधती हैं और वही अपने एक रूप द्वारा पुरुषार्थ (सिद्धि) के लिए (स्वयं को) मुक्त करती है।

व्याख्या : प्रकृति के धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये आठ रूप या भाव हैं। इन आठ में से सात रूपों या भावों से वह स्वयं को बन्धन में डालती है, जबकि केवल एक भाव से अपने आपको मुक्त करती है। प्रकृति को बन्धन प्रदान करने वाले सात भाव या रूप हैं– धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य जबकि एकमात्र भाव जो उसकी मुक्ति का निमित्त बनता है, वह है–ज्ञान। प्रकृति ही स्वयं को ही बन्धन में डालती है, तथा अन्ततः स्वयं ही अपने आपको मुक्त भी करती है। प्रकृति के धर्मादि आठ भाव हैं। इनमें से ज्ञानातिरिक अन्य सात भावों से स्वयं को बन्धन में डाल लेती है, जबकि ज्ञान के द्वारा बन्धन का त्रास कर मुक्त भी हो जाती है।

विशेष : बन्धन, संसरण और मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही होते हैं। सूक्ष्मशरीर के द्वारा प्रकृति के गुणों से जुड़ा हुआ पुरुष भ्रमवश इसे स्वयं भी अनुभूत करने लगता है, जबकि वह निर्गुण एवं अविकारी होने से इन भावों से सर्वथा परे है। तथ्य यह है कि

पुरुष न तो बन्धनग्रस्त होता है और न ही मुक्त होने की उसे कोई आवाश्यकता होती है। इसी बात को वाचस्पति मिश्र ने भी सांख्यतत्वकौमुदी में उपस्थापित किया है। प्रकृति स्वयं ही अपने विविध भावों से अपने आपको बन्धन में डालती है, और स्वतः ही अपने आपको मुक्त भी करती है। विवेकज्ञान या विवेकख्याति से उसे बन्धन से मुक्ति मिलती है, जबकि धर्मादि सप्त भावों से वह बन्धनग्रस्त होकर दुःखों में संसरण करती है –

तत्त्वज्ञानवर्जं बध्नाति–धर्मादिभिः, "सप्तभी रूपैः" भावैरिति। "पुरुषार्थं प्रति" भोगापवर्गों प्रति "आत्मनात्मानम्" एकरूपेण तत्त्वज्ञानेन विवेकख्यात्या विमोचयति, पुनभोगापवर्गों न करोतीत्यर्थ।

एवं तत्वाभ्यास्यान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।64।।

प्रसङ्ग : विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तत्त्वज्ञान से होती है। प्रस्तुत कारिका में इस तथ्य का ही निदर्शनहै।

अन्वय : एवं तत्त्वाभ्यासात् नास्मि, न मे, नाऽहम् इति, अपरिशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धं केवलं ज्ञानम् उत्पद्यते।

अर्थ : इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से, '(मैं क्रियाशील) नहीं हूँ', 'न मेरा (भोक्तापन है)' और 'न मैं (कर्ता हूँ)' ऐसा विपर्यय ज्ञान से रहित केवल विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या : प्रकृति गुणोपेत है, जबकि पुरुष त्रिगुणातीत है। अतः भोक्तापन, बन्धन, मोक्ष कर्मजन्य होने से वस्तुतः प्रकृति के ही होते हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष प्रकृति से विलक्षण या भिन्न है। प्रकृति के साथ वैभिन्नता का ज्ञान हो जाना और अपने आप को उससे पृथक् समझना ही यथार्थ या वास्तविक ज्ञान है। इस यथार्थ ज्ञान, जिसे सांख्यदर्शन में विवेकख्याति से अभिहित किया गया है, के निरन्तर अभ्यास से पुरुष को यह परिज्ञान हो जाता है कि वह 'न तो क्रियावान् है', 'न ही उसमें विषयों को भोगने वाला भोक्तृभाव है' और वह किसी कार्य का कर्त्ता भी नहीं है। यह ज्ञान भ्रमादि से सर्वथा रहित विशुद्ध एवं यथार्थ ज्ञान है।

विशेष : पुरुष का वास्तविक रूप मुक्त है। वह न तो बन्धनग्रस्त होता है, न ही संसार में रमण करते हुए दुःखों का अनुभव करता है। फलतः अपवर्ग रूप परम फल की उसे आवश्यकता भी नहीं है। ये सभी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। वह प्रकृति से सर्वथा पृथक् है, जबकि भ्रान्तज्ञान के कारण ही उसमें प्रकृति से अपार्थक्यता का आरोप हो जाता है। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में प्रकृति से भिन्नता का भान होते ही उसे यह भी पता चल जाता है कि उसमें क्रियावान्, भोक्तापन एवं कर्त्तापन का भी अभाव है। इस विवेकज्ञान के अभ्यास से उसे भ्रमरहित शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। अभिप्राय यह है कि उसे यह ज्ञान होता है कि वह अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प आदि व्यापारकर्तृत्व धर्म वाला नहीं है। और सुख–दुःख आदि भी उसके धर्म नहीं हैं, क्योंकि वह धर्मादि गुणों से रहित है। और उसमें स्वामित्व धर्म भी नहीं है–

अवगतमीदृशं तत्त्वम्, ततः किमित्यत आह – "एवम्" इति। तत्त्वेन विषयेण
तत्त्वज्ञानमुपलक्षयति। उक्तप्रकारतत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादर.........
सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारिज्ञानमुत्पद्यते, यद्विषयश्चाभ्यासस्तद्विषयकमेव

साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चाऽभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति। अत उक्तम्–"विशुद्धम्" इति।

ज्ञानस्वरूपमुक्तम् –"नास्मि, न मे, नाऽहम्" इति । 'नास्मि' इत्यात्मनि क्रियामात्र निषेधति।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ।।65।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका में विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान का फल बताया जा रहा है–

अन्वय : तेन स्वच्छः प्रेक्षकवदवस्थितः पुरुषः अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां निवृत्तप्रसवां प्रकृतिं पश्यति।

अर्थ : इससे निर्मल एवं द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष (विवेक ज्ञान के) सामर्थ्य से (धर्म) इत्यादि सात रूपों से रहित, तथा परिणाम न उत्पन्न करने वाली प्रकृति को देखता है।

व्याख्या : विवेकख्याति या यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने से निर्मल एवं द्रष्टा के समान निष्क्रिय पुरुष विवेकज्ञानरूप प्रयोजन के सम्पन्न होने की सामर्थ्य से धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इत्यादि सात रूपों से रहित और उत्पादन प्रक्रिया से विरहित प्रकृति को देखता है। धर्मादि प्रकृति के सात रूप निस्सन्देह तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण ही विद्यमान रहते हैं। तत्वज्ञान होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है क्योंकि ज्ञान, अज्ञान का विरोधी होता है। यह अज्ञान ही समस्त प्रकृति के परिणाम का कारण होता है, अतएव इसकी निवृत्ति होते ही उसके कार्यभूत सप्तविध प्रकृतिपरिणाम भी स्वतः निराकृत हो जाते हैं। फलतः पुरुष प्रकृति के वास्तविक स्वरूप अर्थात् सप्तगुणों एवं सृजन सामर्थ्य से रहित समझने लगता है।

विशेष : प्रकृति पुरुष के कैवल्यार्थ हेतु भोग और विवेकज्ञान का सृजन करती है। वह अपने समस्त कार्यों को सम्पादित कर लेने के पश्चात् परिणामरहित हो जाती है। सांख्यतत्वकौमुदीकार ने लिखा है कि धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य–प्रकृति के ये सात रूप निस्सन्देह तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण ही होते हैं। जिसे अज्ञान विरोधी ज्ञान नष्ट कर देता है। अज्ञान ही सकल प्रकृति के परिणाम का कारण होता है। उसकी निवृत्ति होते ही प्रकृतिकृत परिणाम भी निवृत्त हो जाते हैं। पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का भान होते ही उसकी बुद्धि राजस और तामस वृत्तियों की मलिनता से रहित होकर अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। निर्मलबुद्धि से पुरुष को यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे उसे प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है और उसे पता चल जाता है कि प्रकृति धर्मादि सात गुणों और प्रसवधर्मिता से विरहित है–

भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ। तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः। विवेकज्ञानरूपो योऽर्थस्तस्य वशः सामर्थ्यम्, तस्मात्। अतत्त्वज्ञानपूर्वकाणि खलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि।

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ।। 66।।

प्रसङ्ग : प्रकृति की सृष्टि की प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य पुरुष के अपवर्ग की प्राप्ति का मार्ग पशस्त करना है। प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की सृष्टि प्रक्रिया कब प्रयोजनहीन हो जाती है, इस बारे में बताया है।

अन्वय : एकः मया दृष्टा इति उपेक्षकः, अन्या अहम् दृष्टा इति उपरमति, तयोः संयोगे सति अपि सर्गस्य प्रयोजनं नास्ति ।

अर्थ : एक (अर्थात् चेतन पुरुष) 'मेरे द्वारा (वह) देख ली गई है', ऐसा (विचार करके) उदासीन हो जाता है। दूसरी (अर्थात् प्रकृति) भी '(उसने) मुझे देख लिया' यह (सोचकर) व्यापारशून्य हो जाती है। (इस प्रकार) दोनों का संयोग होने पर भी सृष्टि (प्रकृति के व्यापार) का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है।

व्याख्या : सांख्यदर्शन ने प्रकृति एवं पुरुष को ही मुख्यतः दो सत्ताओं के रूप में मान्यता दी है। प्रकृति के व्यापार अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया के पश्चात् जब पुरुष में विवेकख्याति या यथार्थ ज्ञान होता है, तब वह चेतनायुक्त पुरुष यह विचार करता है कि प्रकृति को मैंने देख लिया है। पुरुष विवेकज्ञान द्वारा यह भी जान लेता है कि वह प्रकृति से भिन्न है। अतएव प्रकृति दर्शन के पश्चात् उससे भिन्नता के कारण वह पूर्णरूप से उसकी उपेक्षा करते हुए उदासीन हो जाता है। प्रकृति भी यह विचार करती है कि पर पुरुष ने उसे देख लिया है। ऐसा समझकर लज्जाशीला प्रकृति व्यापारशून्य अर्थात् अपनी सृष्टि प्रक्रिया से विरत हो जाती है। वह अत्यधिक लज्जाशीलता के कारण पुनः पुरुष के सम्मुख नहीं आती है। पुरुष के उदासीन होने तथा प्रकृति के पुनः पुरुष के सम्मुख न आने के निश्चय से इन दोनों का संयोग होने पर भी पुनः सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती है। अर्थात् पुरुष–प्रकृति संयोग होने पर भी प्रकृति का सृष्टि–प्रक्रिया रूप व्यापार निष्प्रयोजन हो जाता है।

विशेष : विवेक ज्ञान के अनन्तर पुरुष प्रकृति के प्रति उदासीन हो जाता है और प्रकृ ति पुरुष के लिए सृष्टि प्रक्रिया से अपने आपको अलग कर लेती है। पुरुष को प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का भान हो जाता है। उसे प्रकृति से अपनी पृथकता का पूर्णतः परिज्ञान भी हो जाता है, जिससे वह प्रकृति एवं उसकी सृष्टि रूप व्यापार में किसी भी तरह की आसक्ति नहीं दिखाता है। प्रकृति भी यह सोचती है कि पुरुष ने मुझे देख लिया है, ऐसा विचार कर अत्यन्त लज्जाशील कुलवधू के समान वह प्रकृति सर्वदा के लिए उपरम को प्राप्त हो जाती है और फिर पुरुष के समक्ष नहीं आती है। अतः उनके आपसी संयोग होने पर भी सृष्टि का प्रयोजन समाप्त हो जाता है। वाचस्पति मिश्र के शब्दों में प्रकृति जब तक पुरुष में विवेकख्याति नहीं उत्पन्न कर पाती है, तब तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार–बार भोग कराने में सर्वथा सफल हो पाती है, किन्तु विवेक–ख्याति उत्पन्न होते ही प्रकृति इस कार्य को करने में असमर्थ हो जाती है। प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने के कारण पुरुष भले ही आरोपित सुख, दुःख और मोह इत्यादि अनुभवों को भोगता है, किन्तु विवेक–ज्ञान उत्पन्न होते ही वह प्रकृति के सभी विषयों से तत्क्षण ही परे होकर इन सब के प्रति उदासीन हो जाता है –

'निवृत्तप्रसवामिति न मृष्यामहे, संयोगकृतो हि सर्ग इत्युक्तम्, योग्यता च संयोगः....... पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेर्जड़त्वम्। न चैतयोरस्ति निवृत्तिः। न च करणीयाभावानिवृत्तिः, तज्जातीयस्यान्यस्य करणीयत्वात् , पुनः पुनः शब्दाद्युगपभोगवत्' इत्यत आह– 'दृष्टा मया' इति। करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगं कृतिर्यया विवेकख्यातिर्न कृता।

**सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।67।।**

प्रसङ्ग : विवेकज्ञान होने पर पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का भान हो जाता है। वह कैवल्य प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। तथापि वह शरीर को धारण कर उदासीन भाव से अवस्थित रहता है, इस तथ्य पर ही प्रस्तुत कारिका में प्रकाश डाला गया है।

अन्वय : सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ संस्कारवशात् चक्रभ्रमिtk~ धृतशरीरः (सन्) तिष्ठति।

अर्थ : तत्त्वज्ञान का अधिगम होने से धर्मादि कर्मों के निष्फल हो जाने पर (भी प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट) संस्कारों के सामर्थ्य से (पुरुष) दण्ड पर चलाई गई कुम्हार के चाक की तरह शरीर धारण कर स्थित रहता है।

व्याख्या : पुरुष एवं प्रकृति के वैभिन्न रूपी विवेकज्ञान की प्राप्ति होने से धर्म, अधर्म इत्यादि कर्म दग्ध हो जाते हैं। अर्थात् इनका भोगोत्पत्तिजनकत्वरूप कारणता समाप्त हो जाती है। ये दग्धबीज के समान हो जाते हैं, तथापि संस्कारवश अर्थात् प्रारब्धकर्मजन्य संस्कारों के बल से पुरुष उसी प्रकार शरीर धारण कर संसार में अवस्थित रहता है, जैसे कुम्हार के द्वारा दण्ड पर भ्रमणशील किया हुआ कुलालचक्र कालान्तर में चालन न करने पर भी पूर्वोत्पन्न वेगजन्य संस्कार के कारण घूमता रहता है। पुरुष प्रकृति से भिन्न होकर भी अविद्या के कारण प्रकृतिकृत सृष्टि का भ्रमवशात् अपने में अनुभव करता है, और नानाविध कष्टों को सहन भी करता रहता है। किन्तु विवेकज्ञान से जैसे ही उसे प्रकृति से भिन्नता का भान होता है, वह सद्यः ही प्रकृति एवं तत्कृत सृष्टि के प्रति उदासीन हो जाता है। धर्मादि सात भावों से जन्य कर्म उसे पुनः भोगों में आकृष्ट नहीं कर पाते हैं। ऐसा होने पर भी विवेकी पुरुष अपने शरीर को धारण किए रहता है, और उदासीन भाव से तब तक इस संसार में विद्यमान रहता है, जब तक प्रारब्धकर्मजन्य संस्कार समाप्त नहीं हो जाते हैं।

विशेष : विवेकख्याति होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है। तदनन्तर उसके शरीर (स्थूल और सूक्ष्म उभयविध) का विनाश हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि पुरुष विवेकख्याति के पश्चात् भी इस संसार में उदासीन भाव से विद्यमान रहता है। इसका कारण क्या है? इस तथ्य को सांख्यकारिका के व्याख्याग्रन्थ सांख्यतत्त्वकौमुदी में स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि विवेकज्ञान होने पर भी मुक्त पुरुष इस शरीर को धारण किए रहता है, क्योंकि 'पहले असंख्य प्रारब्ध कर्मों की राशि, जिसकी फल–प्राप्ति का समय अनिश्चित है, वह तो भोग के द्वारा ही क्षीण होगी'। जिस प्रकार कुम्हार के दण्ड पर चढ़ाया चाक पुनः बल न लगाए जाने पर भी पूर्वजनित बल के वेग से ही घूमता रहता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्मों के कारण ही यह पुरुष भी इस संसार में निर्विकार भाव से उदासीन होकर अवस्थित रहता है, और प्रारब्ध कर्मों के फल को भोगता है। किन्तु अब उसके धर्मादि भावों से जन्य कर्म अकारण हो जाते हैं, अर्थात् किसी भी फल को उत्पन्न नहीं करते हैं–

तत्त्वसाक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियतविपाककालोऽपि कर्माशयप्रचयो दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते। क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यकुरं प्रसुवते। तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः? तदिदमुक्तम् "धर्मादीनामकारणप्राप्तौ" इति,

अकारणत्वप्रासावित्यर्थः। उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि च संस्कारवशात् तिष्ठति, यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशात् भ्रमत् तिष्ठति, कालपरिपाकवशात्तपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति। शरीरस्थितौ च प्रारब्धकर्मपरिपाको धर्माधर्मौ संस्कारौ, तौ च भोगेन क्षेतव्यो।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृतौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ।।68।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति ज्ञानी पुरुष के प्रति अपनी व्यापार सृष्टिप्रक्रिया से पुनः प्रवृत्त नहीं होती है।

अन्वय : शरीरभेदे प्राप्ते (सति) चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ (पुरुषः) ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयं कैवल्यम् आप्नोति।

अर्थ : शरीर नष्ट हो जाने पर (भोग एवं अपवर्ग रूपी) प्रयोजनों (पुरुषार्थों) के सिद्ध हो जाने के कारण प्रकृति (ज्ञानी पुरुष) के प्रति प्रवृत्त होना बन्द कर देती है। वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या : सूक्ष्मस्थूलोभयविध शरीर के विनष्ट हो जाने पर पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है। भोग एवं अपवर्ग को प्राप्त कर चुके पुरुष के प्रति प्रधान प्रकृति सदा के लिए प्रवृत्त होना बन्द कर देती है। प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर विवेकज्ञानसम्पन्न पुरुष ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। पुरुष विवेकज्ञान होने पर भी अपने प्रारब्ध कर्मों के कारण शरीर का त्याग नहीं करता है। ऐसी स्थिति में उसे कैवल्य की प्राप्ति कैसे और कब होती है, यह स्वाभाविक प्रश्न मन में उठता है। सांख्यकारिकाकार ने इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि सभी प्रकार के प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होते ही पुरुष के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीर नष्ट हो जाते हैं। शरीर के विनष्ट हो जाने पर पुरुष के भोग एवं अपवर्ग ये दोनों प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते हैं। प्रकृति के सृष्टि करने का प्रयोजन भी तो पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का मार्ग प्रशस्त करना ही होता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति पुनः उस विवेकख्यातिप्राप्त पुरुष के प्रति प्रवृत्त नहीं होती है। फलतः पुरुष को ऐकान्तिक (अनिवार्यरूप से) आत्यन्तिक (पूर्ण) मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष : प्रारब्ध संस्कार के कारण विज्ञानी पुरुष शरीर धारण किए रहता है। वह दुःखादि भावों से उपरत तो हो जाता है किन्तु उसे पूर्ण मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। वह संसार में संसरण करता रहता है। ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति कब होगी? सांख्यकारिकाकार के वचनों के व्याख्यान से इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जिन कर्मों का फलभोग प्रारम्भ नहीं हुआ है, उन (सञ्चित) कर्म संस्कारों की फलोत्पादनशक्ति तो तत्त्वज्ञान से ही नष्ट हो जाती है। किन्तु जिनका फल भोग प्रारम्भ हो चुका था अर्थात्प्रारब्ध कर्म, भोग द्वारा ही उनका क्षीण या नष्ट होना संभव है। इससे पुरुष के भोग और अपवर्ग द्विविध प्रयोजन भी सिद्ध हो जाते हैं। प्रयोजन सिद्ध ज्ञानी पुरुष के विषय में प्रकृति की प्रवृत्ति भी नहीं होती है। प्रकृति की प्रवृत्ति से रहित ज्ञानवान पुरुष 'ऐकान्तिक' अर्थात् निश्चितरूप से 'आत्यन्तिक' अर्थात् अविनाशी (नित्य) 'कैवल्य' को प्राप्त कर लेता है, जो दुःखत्रय से परे है–

यदि संस्कारशेषादपि धृतशरीरस्तथाऽपि कदाऽस्य मोक्षो भविष्यति? इत्यत 'आह' – "प्राप्ते" इति। अनारब्धविपाकानां तावत् कर्माशयानां तत्त्वज्ञानाग्निना बीजभावो दग्धः।

प्रारब्धविपाकानां तूपभोगेन क्षये सति, "प्राप्ते शरीरभेदे" इति–विनाशे, "चरितार्थत्वात्" इति कृतप्रयोजनत्वात् प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ। "ऐकान्तिकम्", अवश्यम्भावि, "आत्यन्तिकम्"–अविनाशि, इत्युभयं "कैवल्यम्" दुःखत्रयविगमं प्राप्नोति पुरुषः।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ।।69।।

प्रसङ्ग : महर्षि कपिल प्रोक्त पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य से निष्पन्न विवेकज्ञान अत्यन्त गूढ़ ज्ञान है, इस तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत कारिका में किया गया है –

अन्वय : इदं गुह्यं पुरषार्थज्ञानं परमर्षिणा समाख्यातम्, यत्र भूतानां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः चिन्त्यन्ते।

अर्थ : अत्यन्त गुह्य (दुर्बोध) यह पुरुषार्थ ज्ञान महर्षि (कपिल) द्वारा कहा गया, जिसमें भूतों की स्थिति, सृष्टि तथा विनाश का विचार किया गया है ।

व्याख्या : महर्षि कपिल ने पुरुष के भोग और अपवर्ग प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले इस अत्यन्त दुर्बोध ज्ञान को सांख्यसूत्र में समाहित किया है। इस ज्ञान में समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का विचार भी समाहित है। उनके द्वारा सरलतम पद्धति से इस दुरूह ज्ञान को उपस्थापित किया गया है, जिसे कोई भी सुकरता से समझ सकता है। भूतों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश को समझना अत्यन्त कठिन है। किन्तु सांख्यसूत्र में महर्षि कपिल ने इस दुर्बोध विषय को भी अत्यन्त सरलता से प्रस्तुत किया है, साथ ही पुरुष के प्रयोजन भोग एवं अपवर्ग का भी इसमें विधान किया गया है। महर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र के अन्दर पुरुषार्थ ज्ञान के निमित्त महत्तत्त्व आदि से लेकर पृथिवी इत्यादि पञ्च महाभूतपर्यन्त पदार्थो की तथा प्रसङ्गवश सभी प्राणियों की स्थिति, उत्पत्ति, एवं प्रलय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके द्वारा दिया गया यह ज्ञान निस्सन्देह अत्यन्त गूढ़ एवं गंभीर है, फलतः स्थूलवुद्धि वालों के लिए दुर्बोध भी है। महर्षि कपिल ने क्लिष्ट विषयों का सभी को बोध कराने के लिए ही सांख्यशास्त्र रूपी सर्वथा श्रद्धेय शास्त्र का प्रणयन किया है।

विशेष : प्रकृति एवं पुरुष के विवेकज्ञान से त्रिविध दुःखों से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। किन्तु प्रकृति–पुरुष का विवेकज्ञान अत्यन्त गूढ़ या गुह्य ज्ञान है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में महर्षि कपिल द्वारा प्रदत्त गुह्य ज्ञान का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'गुह्य' का अर्थ हैं– गुफा यानी दुर्गमस्थल। वहाँ प्राप्त होने वाला ज्ञान ही गूह्यज्ञान है, जो स्थूलमति वालों के लिए सर्वथा दुर्बोध है, उनके अवबोध के लिए ही परमर्षि कपिल मुनि के द्वारा इस सांख्यशास्त्र रूपी श्रद्धेय आगम–मूलक शास्त्र का उपस्थापन किया गया, जिसमें भूतों की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का निरूपण किया गया है–

"गुह्यम्"– गुहानिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमिति यावत्। "परमर्षिणा"–कपिलेन। तामेव श्रद्धामागमिकत्वेन द्रढयति–स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् इति।

एततपवित्रग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।

आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ।।70।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने कपिल मुनि प्रोक्त सांख्यशास्त्र की गुरु–शिष्य परम्परा का उल्लेख किया है।

अन्वय : मुनिः अनुकम्पया अस्य पवित्रम् अग्र्यं एतत् आसुरये प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।

अर्थ : महर्षि कपिल ने कृपा करके इस पवित्र तथा श्रेष्ठ ज्ञान को आसुरि को प्रदान किया। आसुरि ने भी पञ्चशिख को (दिया) और उनके द्वारा (यह) शास्त्रज्ञान बहुधा विस्तृत किया गया।

व्याख्या : महामुनि कपिल ने सांख्यशास्त्र का प्रणयन किया। उन्होंने प्रसन्न होकर अनुग्रहपूर्वक इस पवित्र एवं श्रेष्ठ ज्ञान को अपने शिष्य आसुरि को दिया। आसुरि ने इस तत्त्वज्ञान को 'पञ्चमसिख' को प्रदान किया। आसुरि से प्राप्त ज्ञान को पञ्चशिख द्वारा सर्वत्र प्रसारित किया। ईश्वरकृष्ण ने प्रस्तुत कारिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि महर्षि कपिल न केवल सांख्यशास्त्र के जानकार थे, अपितु वही इसके प्रणेता भी थे। साथ ही सांख्यशास्त्र से सम्बद्ध गुरु–शिष्य परम्परा का उल्लेख भी कर दिया है। महर्षि कपिल के शिष्य थे आसुरि। जिन्हें कपिल ने परम पुनीत एवं श्रेष्ठ सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों की शिक्षा दी। आसुरि ने अपने शिष्य पञ्चशिख को यह ज्ञान प्रदान किया तथा आसुरि के द्वारा इसका अनेकविध प्रचार, प्रसार एवं विस्तार किया गया।

विशेष : महर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र का प्रणयन किया था। तत्पश्चात् उन्होंने यह ज्ञान आसुरि को दिया और आसुरि ने इसे अन्यत्र प्रसारित किया। यहाँ शंका यह होती है कि साक्षात् महर्षि कपिल के द्वारा कहे गए शास्त्रज्ञान में श्रद्धा हो सकती है। क्योंकि वह ज्ञान परमर्षि कपिल के मुख से साक्षात् निःसृत हुई है। किन्तु सांख्यकारिका जो कि सांख्यदर्शन का एक प्रकरणग्रन्थ है, और ईश्वरकृष्ण विरचित है, उसके प्रति ज्ञानपिपासुओं में श्रद्धा का भाव भला क्यों उत्पन्न हो? क्योंकि सांख्यकारिका न तो महर्षि कपिलकृत है, और न ही उनके साक्षात् शिष्यों द्वारा ही रचित है। इसका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि यह 'पवित्र' पावन अर्थात् दुःखत्रय के कारणभूत अविद्या रूपी पाप को दूर करने वाला पावन शास्त्र है, जिसका ज्ञान महर्षि कपिल से आसुरि और आसुरि से पञ्चशिख को हुआ। पञ्चशिख ने इसे सर्वत्र प्रसारित किया। पञ्चशिख प्रसारित ज्ञान का परिज्ञान करके ही सांख्यकारिकाकार ने सांख्यसिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप में संवलित कर सांख्यकारिका रूपी ग्रन्थ की रचना की है, अतः इसके प्रति श्रद्धा रखने में भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है–

स्यादेतत्– "यत् परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्दधीमहि, यत्पुनरीश्वरकृष्णेन कथितं, तत्र कुतः श्रद्धा?" इत्यत आह–"एतत्" इति। "एतत् पवित्रम" पावनम्–दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति"अग्र्यम्" सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम्, "मुनिः कपिलः श्रासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्। .

शिष्यपरम्परयाऽगतमीश्वरकृष्णेन चौतदार्यादिभिः ।
सक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ।।71।।

प्रसङ्ग : प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने यह स्पष्ट किया है कि उनके द्वारा लिखित सांख्यकारिका में महर्षि कपिल द्वारा दत्त सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का ही संक्षिप्त में विवेचन किया गया है।

अन्वय : शिष्यपरम्परया आगतम् एतत् आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तं सम्यग् विज्ञाय आर्याभिः सक्षिप्तम्।

अर्थ : शिष्यपरम्परा से आगत इस (सांख्यसम्मत ज्ञान) को आर्यमति ईश्वरकृष्ण के द्वारा (सांख्य) सिद्धान्त को अच्छे से समझकर आर्या (नामक छन्द) द्वारा संक्षिप्त (किया गया)।

व्याख्या : महर्षि कपिल से आसुरि को सांख्यसिद्धान्त का अवबोध हुआ। आसुरि से पञ्चशिख तथा पञ्चशिखाचार्य द्वारा प्रसारित ज्ञान ही शिष्यपरम्परा से आर्यमति ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ। पश्चात् इस सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों को भलीभाँति समझकर ईश्वरकृष्ण ने आर्या छन्द के आश्रय से सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप में विवेचित किया है। प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सांख्यकारिका का आधार कपिल प्रणीत सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त ही हैं। जो उन्हें महर्षि कपिल के परम्परया शिष्य पञ्चशिखाचार्य की विस्तीर्ण शिष्य परम्परा से ही प्राप्त हुआ है। ईश्वरकृष्ण ने महर्षि कपिल प्रोक्त सिद्धान्त में कोई भी तात्विक परिवर्तन नहीं किया है, अपितु उसे संक्षिप्त करके आर्या छन्द के माध्यम से ज्ञानानुरागियों के सम्मुख रख दिया है।

विशेष : महर्षि कपिल के परम्पराप्राप्त शिष्य पञ्चशिख ने अपनी विस्तीर्ण शिष्य परम्परा एवं रचनाओं से सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार–प्रसार किया। उनके शिष्यपरम्परा से अथवा रचनाओं से ही यह ज्ञान ईश्वरकृष्ण तक पहुँचा। जिसे अच्छी तरह समझने के पश्चात् उन्होंने सामान्यमतिमतिज्ञों को अवबोध कराने के लिए संक्षिप्त करके सांख्यकारिका नामक महनीय ग्रन्थ में समाहित कर दिया है। सांख्यसिद्धान्तों के ज्ञान से ईश्वरकृष्ण की बुद्धि भी तीक्ष्ण हो गई है, इसका उल्लेख आर्यमति पद का प्रयोग करते हुए स्वयं कारिकाकार ने पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने भी किया है –

"शिष्य" इति। आरात् याता तत्त्वेभ्यः इत्यार्या, आर्या मतिर्थस्य सोऽयम् "आर्यमतिः" इति।

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ।।72।।

अन्वय : सप्तत्याम् आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिजिताः च अपि ये अर्थाः (सन्ति), ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य (सन्ति) किल।

अर्थ : 'सप्तति' (अर्थात् सत्तर कारिकाओं वाले ग्रन्थ) में आख्यायिकाओं से रहित तथा परवाद खण्डन से भी रहित जो पदार्थ (निरूपित) हैं, निस्सन्देह वे ही समस्त 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ के (भी प्रतिपाद्य) हैं।

व्याख्या : आर्याछन्द के आश्रय से उपनिबद्ध इन सत्तर कारिकाओं के अन्दर आख्यायिका से रहित और दूसरों के मत के खण्डन से विरहित जिन पदार्थों का निरूपण किया गया है, वे सब पदार्थ 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ में भी विवेचित हैं। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपने ग्रन्थ सांख्यकारिका के प्रतिपाद्य का निरूपण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यहाँ उल्लिखित पदार्थों का वर्णन 'षष्टितन्त्र' नामक ग्रन्थ में भी किया गया है। इसके आधार पर ही उन्होंने अपने ग्रन्थ का सृजन किया है। सांख्यकारिका में विषय का प्रतिपादन कहानी या आख्यायिकाओं के रूप में उपस्थापित नहीं किया गया है, अपितु उनका यथार्थ निरूपण संक्षिप्त शैली में आर्या छन्द में

उपनिबद्ध कर किया गया है। इसमें ईश्वरकृष्ण का मुख्य ध्येय सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही था। अतः ग्रन्थ में कहीं भी उन्होंने सांख्यविरोधी सिधान्तों का खण्डन नहीं किया है।

विशेष : प्रस्तुत कारिका के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने अपना अभिमत प्रकट किया है। सांख्यकारिका का आधार पञ्चशिखाचार्य प्रणीत षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ है, जिसमें साठ पदार्थों का निरूपण मिलता है। प्रकृति, पुरुष एवं इनके विविध सम्बन्धाधारित कुल दस मौलिक पदार्थ हैं। पाँच प्रकार के अज्ञान, नौ प्रकार की तुष्टियाँ, इन्द्रियों की अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ, तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ– ये सब मिलाकर कुल साठ पदार्थ हो जाते हैं। जिनका निरूपण षष्टितन्त्र में किया गया है, और ये साठों पदार्थ सांख्यकारिका में भी निरूपित हैं। वाचस्पति मिश्र यह भी मानते हैं कि सांख्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ वस्तुतः एक मौलिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थ है, इसे प्रकरण ग्रन्थ समझना असंगत है –

एतच्च "शास्त्र" सकलशास्त्रार्थसूचकत्वात्, न तु प्रकरणमित्याह "सप्तत्याम्" इति। तथा च राजवार्तिकम्–"प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथाऽन्यता"। पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च।।शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश। विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः।।करणानामसामर्थ्यमष्टविंशतिधा स्मृतम्। इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः।।इति। सेयं षष्टि पदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनानेदं प्रकरणमपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्।

23.3 सारांश

बन्धन एवं मोक्ष दर्शन का अत्यधिक विवेच्य विषय है। इनको लेकर प्रायः प्रत्येक दर्शन में विचार–चर्चा दृष्टिगोचर होती है। बन्धन एवं मोक्ष को ही संख्यदर्शन में भोग एवं अपवर्ग के नाम से निरूपित किया गया है। अभिप्राय यह है कि सांख्यदर्शन में बन्धन के लिए भोग एवं मोक्ष के लिए अपवर्ग पद का प्रयोग किया गया है। इनमें आपस में साधन एवं साध्य का भाव है, अतः ये परस्पर विरोधी नहीं है, जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं। बन्धन के कारण ही अपवर्ग की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। सांख्यदर्शन में प्रकृति एवं पुरुष ये दो प्रमुख तत्त्व हैं। इनमें से प्रकृति जड़ एवं त्रिगुणात्मक है, जबकि पुरुष चेतन एवं त्रिगुणातीत है। इन दोनों ही सत्ताएं का भोग एवं अपवर्ग से सम्बद्ध हैं। प्रकृति जहाँ भोग एवं अपवर्ग का विधातृ है, वहीं पुरुष इनका प्राप्तकर्ता या उपभोगकर्त्ता है। प्रकृति अपनी त्रिगुणात्मिका शक्ति में से रजोगुण के द्वारा भोग का सृजन करती है। प्रकृति अपनी भौतिक सृष्टि के द्वारा विभिन्न योनियों वाले प्राणियों को उत्पन्न करती है, तत्पश्चात् चेतना की न्यूनाधिक्यता से ऊर्ध्व, मध्यम एवं अधोलोक का निर्माण भी करती है। प्रकृति के सर्ग या सृष्टि प्रक्रिया, जिसे प्रकृति का व्यापार भी कहा जाता है, का प्रमुख प्रयोजन पुरुष के अपवर्ग के मार्ग को प्रशस्त करना ही होता है। यहाँ विचारणीय विन्दु यह है कि जब प्रकृति अचेतन है तो वह सृष्टि कैसे कर सकती है? क्योंकि सृष्टि के लिए किसी चेतनसत्ता की आवश्यकता होती है? इसका समाधान स्वयं सांख्यकारिकाकार ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार पुरुष के संयोग से अचेतन जड़ प्रकृतिं चेतनावान की तरह हो जाती है, और समस्त सृष्टि को सुसम्पन्न करती है। पुरुष और प्रकृति के संयोग का एक अति विशेष प्रयोजन है, और वह है प्रकृति का दर्शन एवं पुरुष का अपवर्ग। अर्थात् पुरुष और प्रकृति के संयोग से

दोनों के विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है। इनके संयोग से प्रकृति का प्रयोजन अपना दर्शन कराना एवं पुरुष का प्रयोजन अपवर्ग की प्राप्ति करना दोनों एक साथ सिद्ध हो जाते हैं।

प्रकृति ही अपनी त्रिगुणात्मक शक्ति से सृष्टि करती है, संसार में भोगों को उत्पन्न करती हुई इनमें संसरण करती है, और मोक्ष या अपवर्ग का मार्ग भी प्रशस्त करती है। पुरुष का वास्तविक स्वरूप चैतन्यवान होना है, जो स्वभातः मुक्त है। वह कभी भी बन्धन ग्रस्त होता ही नहीं है। उसे बन्धन ग्रस्त होने की भ्रान्ति ही होती है, और जैसे ही प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उसे हो जाता है, तथा अपने आपको वह प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, वैसे ही उसकी भ्रान्ति भी विनष्ट हो जाती है। इस प्रकार देखा जाए तो वास्तव में भोग, अपवर्ग, एवं सांसारिक दुःखों की प्राप्तकर्ता प्रकृति ही है। पुरुष में तो इन सबका अज्ञान के कारण आरोप करा दिया जाता है। प्रकृति वास्तव में अपनी मुक्ति के लिए ही सृष्टि करती है, स्वतः ही ज्ञानातिरिक्त सात भावों से बन्धनग्रस्त होती है और अन्ततः अपने ज्ञान रूप धर्म से मुक्त भी हो जाती है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य ये आठ प्रकृति के भाव हैं, जिनमें से वह ज्ञानातिरिक्त सात भावों से अपने आपको बन्धन में डालती है और ज्ञान के द्वारा बन्धन से मुक्त हो जाती है।

23.4 शब्दावली

अधोलोक–अतल, वितल इत्यादि से लेकर पाताललोकर्यन्त सात अधोलोकों में होने वाली सृष्टि राक्षस सर्ग है। पिशाचों का निवास भी वहीं हैं, अतः यह ही पिशाचों की भी सृष्टि यानी पैशाच सर्ग भी है।

ऊर्ध्वलोक– भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः इत्यादि लोक ऊर्ध्व या ऊपर अवस्थित लोक हैं, जिसमें उच्चचेतना वाले जीव (देवतादि) निवास करते हैं।

तुष्टि– नव प्रकार की तुष्टियाँ मानी जाती हैं।

तैर्यग्योनि– पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप एवं स्थावर ये पांच योनियाँ तैर्यग्योनि हैं।

दैवसर्ग– देवता सम्बन्धी सृष्टि दैवसर्ग है। इसके अन्तर्गत ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस एवं पैशाच ये आठ सृष्टियाँ होती हैं।

पञ्चशिख– ये सांख्य के अति प्रसिद्ध आचार्य थे, जो आसुरि के शिष्य थे तथा जिन्होंने षष्टितन्त्र नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की थी।

भाव– भाव आठ होते हैं–धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य।

मध्यलोक– मध्यलोक में रजोगुण–प्रधान सर्ग होती है, अतः वहाँ रहने वाले जीव रजोगुण–प्रधान होते हैं। मनुष्य इसी श्रेणी में आता है, फलतः मनुष्य में रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण प्रधान लोक मध्य लोक है।

लोक– ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं मध्यम लोक ये मुख्यतया तीन लोक होते हैं।

वाचस्पति मिश्र – सांख्यदर्शन सहित अनेक दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित, जिन्होंने सांख्यदर्शन से सम्बन्धित अति प्रसिद्ध टीका ग्रन्थ सांख्यतत्त्वकौमुदी की रचना की थी।

जिसमें, ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका नामक ग्रन्थ की व्याख्या विहित है। इन्होंने इसके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था।

विपर्यय ज्ञान– अज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह पांच प्रकार का होता है।

23.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित, (सम्पा.) डॉ. रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ, 2001।
- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, माठरवृत्तिसहित, (व्या.) पं. विष्णु प्रसाद शर्मा, चौखम्बा सिरीज ऑफिस, बनारस, 1922।
- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, गौड़पादभाष्यसहित, (व्या.) पं. श्रीज्वाला प्रसाद गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1967।
- ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, सांख्यतत्त्वकौमुदी सहित, (व्या.) डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2000।
- सांख्यतत्त्वकौमुदी–प्रमा, (व्या.)प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980।

23.6 अभ्यास प्रश्न

1. ऊर्ध्वलोक पर टिप्पणी लिखिए।
2. तिर्यग्योनि में परिगणित जीवों की योनियों के नाम लिखिए।
3. मध्यम लोक की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. प्रकृति के आठ भाव कौन–कौन से हैं?
5. प्रकृति को बन्धन में डालने वाले भावों पर प्रकाश डालिए।
6. ईश्वरकृष्ण सम्मत सांख्य की प्रारम्भिक गुरु–शिष्य परम्परा का उल्लेख कीजिए।
7. प्रकृति की सृष्टि प्रक्रिया का प्रमुख प्रयोजन क्या है?
8. अचेतन प्रकृति सृष्टि कैसे करती है? विस्तार से समझाएं।
9. प्रकृति के भौतिक सर्ग को व्याख्यायित करें।
10. पुरुष एवं प्रकृति के संयोग पर टिप्पणी कीजिए।
11. भोग, अपवर्गादि प्रकृति के लिए ही हैं। सिद्ध कीजिए।
12. पुरुष न तो बन्धन ग्रस्त होता है और न ही मुक्त होता है; इस तथ्य पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।